'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' और हिंदी साहित्येतिहास लेखन के प्रश्न

‘HINDI SAHITYA KE ASSI VARSH’ AUR HINDI SAHITYETIHAS LEKHAN KE PRASHAN

‘HINDI SAHITYA KE ASSI VARSH’ AND THE QUESTION OF HISTORIOGRAPHY OF HINDI LITERATURE

एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध - निर्देशक

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी

प्रदीप कुमार

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

Centre for Indian Languages

School of Languages, Literature and Culture Studies

New Delhi-110067, India

Dated: 21/07/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this M.Phil. Dissertation entitled **"HINDI SAHITYA KE ASSI VARSH' AUR HINDI SAHITYETIHAS LEKHAN KE PRASHAN('HINDI SAHITYA KE ASSI VARSH' AND THE QUESTION OF HISTORIOGRAPHY OF HINDI LITERATURE)"** by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University or Institution.

Pradeep Kumar

RESEARCH SCHOLAR
PRADEEP KUMAR
(CIL/SLL&CS/JNU)

PROF. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
SUPERVISOR
(CIL/SLL&CS/JNU)

PROF. GOBIND PRASAD
CHAIRPERSON
(CIL/SLL&CS/JNU

समर्पित,

माँ-बाबूजी को

जो मेरे बचपन से ही जानते हैं कि

मैं एक दिन सारी मोह-माया त्यागकर संन्यासी हो जाउँगा

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

भूमिका i-iii

अध्याय : एक

हिंदी साहित्य में इतिहास लेखन की परंपरा और दृष्टियाँ 1-36

1.1 इतिहास : अर्थ, अवधारणा और स्वरुप

1.2 साहित्येतिहास : दर्शन और दृष्टियाँ

1.3 हिंदी साहित्येतिहास : परंपरा और दृष्टियाँ

1.4 शिवदान सिंह चौहान : व्यक्तित्व परिचय और साहित्य चिंतन

अध्याय : दो

'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : स्वरुप और समस्याएँ 37-62

2.1 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : स्वरुप

2.2 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : समस्याएँ

अध्याय : तीन

साहित्य के इतिहास लेखन में भाषा का सवाल और हिंदी साहित्य 63-101

3.1 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और शिवदान सिंह चौहान

3.2 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और जातीयता की अवधारणा

3.3 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और अन्य दृष्टियाँ

अध्याय : चार

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल : दृष्टियाँ और सवाल 102-123

4.1 आधुनिक काल : शिवदान सिंह चौहान की दृष्टि और सवाल

4.2 आधुनिक काल : अन्य महत्वपूर्ण दृष्टियाँ और सवाल

उपसंहार : 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : वैकल्पिक इतिहास की ओर 124-127

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची 128-130

भूमिका

भूमिका

मेरे हिंदी साहित्य से परिचय के आरंभिक वर्षों में मुझे कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास आदि पढ़ना अत्यधिक रुचिकर लगता था। जिसके कारण मैं उन दिनों हिंदी, अंग्रेजी और न जाने दुनिया के किन-किन भाषाओं की कविताओं और उपन्यासों को लगातार पढ़ता गया। परंतु धीरे-धीरे मेरा मन कविताओं और उपन्यासों से हटकर काव्यशास्त्र और आलोचना में रमने लगा। इसके बाद काव्यशास्त्र और आलोचना से मन हटा तो साहित्य के इतिहास से अनुराग बढ़ गया। इस तरह से कविताओं और उपन्यासों का आस्वादन करने वाले एक सामान्य और शौकिया पाठक से साहित्य का औपचारिक रुप से अध्ययन करने वाले छात्र बनने और फिर साहित्य के इतिहास के एक शोधार्थी बन जाने की अबतक की यात्रा मैंने पूरी की। यह सफर कहाँ जाकर रुकेगा इसका कुछ पता नहीं। संभव है कि पांच-दस वर्षों बाद मेरी रुचि साहित्य के इतिहास से अधिक साहित्य के दर्शन में हो, उसके दस-पंद्रह वर्षों बाद साहित्य के दर्शन में भी मेरी रुचि न रहे। भविष्य किसने देखा है, किसने जाना है। ठीक इसी तरह मैंने इस शोध प्रबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं, जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, भविष्य में भी उसी निष्कर्षों से सहमत रहूँ, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि नए तथ्यों के मिलने और परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तन होते रहने से निष्कर्ष बदल सकते हैं, विवेचन और व्याख्या की पद्धति बदल सकती है। इसलिए यह निवेदन है कि मेरे इस शोध प्रबंध के निष्कर्षों को मेरी ओर से कहा गया अंतिम सत्य न माना जाए।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एम.ए. में अध्ययन के दौरान ही मैंने यह तय कर लिया था कि यदि मुझे हिंदी साहित्य में शोध करने का अवसर मिला तो मैं हिंदी साहित्य के इतिहास से संबंधित विषयों पर ही शोध करूँगा। इसलिए जब मुझे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य के शोधार्थी के रूप में वर्ष 2015 में प्रवेश मिला तो प्रवेश लेने के अगले ही दिन अपने शोध-निर्देशक गुरुवर प्रो. देवेंद्र कुमार चौबे से उनके कक्ष में मिलकर उनके निर्देशन में साहित्य के इतिहास से संबंधित किसी भी विषय पर शोध करने की इच्छा जाहिर की, तो उन्होंने मुझसे तत्काल ही पूछा कि आप मेरे निर्देशन में शोध क्यों करना चाहते हैं? तो मैंने कहा कि - चुकि एम.ए. के दौरान हिंदी साहित्य इतिहास और हिंदी आलोचना दोनों ही विषय आपने हमें पढ़ाया है, इसलिए मैं आप के निर्देशन में साहित्य के इतिहास पर शोध करना चाहता हूँ।

इसके बाद उन्होंने मुझे अपने निर्देशन में शोध कराने की सहमति दे दी। इसके बाद शोध के विषय आदि के संदर्भ में पूछे जाने पर मैंने कहा कि एम.फिल में प्रवेश हेतु साक्षात्कार के लिए मैंने 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में शिवदान सिंह चौहान की इतिहास दृष्टि को विषय के रूप में चुना था। इसलिए इस विषय पर या किसी अन्य साहित्य के इतिहास से संबंधित विषय पर शोध किया जा सकता है। मेरे ऐसा कहने पर उन्होंने सुझाव दिया कि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' और हिंदी साहित्येतिहास लेखन के प्रश्न' लघु-शोध के लिए अच्छा विषय हो सकता है। इस तरह से मेरे इस लघु-शोध के विषय का चयन हुआ। और तब से मैंने औपचारिक और व्यवस्थित रुप से इस विषय पर शोध करना आरंभ किया।

इस लघु-शोध प्रबंध में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में साहित्य के इतिहास लेखन की भारतीय और पश्चिमी परंपरा का विवेचन हुआ है। इसके साथ ही इसमें गार्सा-द-तासी से लेकर अब तक की हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की परंपराओं और दृष्टियों पर विस्तार से विवेचन हुआ है। द्वितीय अध्याय में, मुख्य रुप से हिंदी साहित्य अस्सी वर्ष के स्वरूप गत विशेषताओं और उसकी समस्याओं पर स्वतंत्र रूप से और दूसरे हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों से तुलनात्मक रूप में भी विस्तार से विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की सर्वाधिक चर्चित समस्या 'भाषा के सवाल' पर हिंदी साहित्य जगत में प्रचलित और स्वीकृत भाषा-संबंधी विभिन्न अवधारणाओं के संदर्भ में विचार हुआ है। फिर अंतिम रूप से चतुर्थ अध्याय में हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के इतिहास लेखन के संदर्भ में हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष के अलावा दूसरे इतिहास ग्रंथों में अपनाई गई स्वरूपगत दृष्टियों और सवालों पर विस्तार से विवेचन हुआ है। इसके अलावा इस अध्याय में शिवदान सिंह चौहान के इतिहास दृष्टि के व्यवहारिक और सैद्धांतिक पक्ष पर भी विचार हुआ है।

इस लघु शोध प्रबंध से पहले मेरी जानकारी में शिवदान सिंह चौहान के इतिहास दृष्टि और आलोचना दृष्टि को लेकर तीन शोध कार्य हुए हैं। मैंने उन तीनों शोध प्रबंधों का अध्ययन किया है। इसलिए मेरे इस लघु-शोध प्रबंध में शिवदान सिंह चौहान और हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष के उन पहलुओं पर विचार हुआ है, जिस पर पहले के शोध-प्रबंधों में विचार नहीं हो सका था। उन तीनों शोध प्रबंधों से संबंधित सूचना मैंने संदर्भ ग्रंथ सूची में दी है। मेरे इस शोध प्रबंध में हुई किसी भी तरह की गलतियां मेरे अल्पअध्ययन, अल्पज्ञान और अज्ञानता का प्रमाण हो सकती हैं, जिसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस शोध कार्य के विषय चयन से लेकर शोध के अंतिम रुप से तैयार होने तक समय-समय पर गुरुवर प्रो. देवेंद्र कुमार चौबे द्वारा मिले अमूल्य सुझावों के बिना यह लघु-शोध कार्य इस रुप में प्रस्तुत न हो पाता। इस पूरे शोध कार्य के दौरान गुरुवर की आत्मीयता और अपेक्षा के कारण आरंभ से ही मुझे अच्छा कार्य करने का दबाव महसूस होता था। अपने तमाम प्रयासों के बावजूद मैं इस शोध विषय के साथ कितना न्याय कर पाया हूँ, और गुरुवर के अपेक्षाओं पर कितना खरा उतर पाया हूँ, कह नहीं सकता।

अंत में, मैं उन सबों का आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने जाने-अनजाने किसी भी तरह से इस शोध कार्य के दौरान मेरी मदद की।

प्रदीप कुमार
भारतीय भाषा केंद्र
जे. एन. यू., नई दिल्ली

अध्याय : एक

हिंदी साहित्य में इतिहास लेखन की परंपरा और दृष्टियाँ

1.1 इतिहास : अर्थ, अवधारणा और स्वरुप

1.2 साहित्येतिहास : दर्शन और दृष्टियाँ

1.3 हिंदी साहित्येतिहास : परंपरा और दृष्टियाँ

1.4 शिवदान सिंह चौहान : व्यक्तित्व परिचय और साहित्य चिंतन

1.1 इतिहास : अर्थ, अवधारणा और स्वरुप

मनुष्य अपने उत्पति काल से ही किसी न किसी तरह से अपने रहने-जीने-मरने तथा आसपास के वातावरण-पशुओं-दूसरे मनुष्यों के बीच परस्पर क्रीडाओं और अन्य तमाम हजारों-लाखों गतिविधियों के चिन्ह भिन्न-भिन्न रूपों में अपने पीछे जाने-अनजाने छोड़ता चला गया है। अपने व्यापक और सामान्य अर्थ में इतिहास में इन्हीं सब चीजों का अध्ययन किया जाता है। इसके तहत सबकुछ गिना जा सकता है - भोजन, वस्त्र, आवास, सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक संगठन, अपने परिवेश का ज्ञान, भाषा, धर्म, दार्शनिक सोच, परंपराएँ और मान्यताएँ आदि आदि। और इसके अलावा भी बहुत कुछ जिसके बारे में सोचने समझने की हमारी क्षमता नहीं है। परंतु क्या वास्तव में इन सब चीजों का अध्ययन किया जा सकता है? अगर हाँ, तो इसकी प्रविधि क्या हो सकती है? इन सब सवालों को लेकर इतिहास को ज्ञान की एक शाखा के रूप में माने जाने काल से लेकर आज तक विचार हो रहा है, परंतु अभी तक इस पर आम सहमती तो दूर एक सामान्य सहमती भी नहीं बन पाई है।

यूरोप में पंद्रहवीं सदी के उत्तरार्ध से आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के आरंभ से ही आधुनिक इतिहास दर्शन की शुरुआत मानी जाती है; तभी से ही कुछ इतिहासकार अतीत का व्यवस्थित तरीके से अध्ययन करने का दृष्टिकोण अपनाते हुए इसे विज्ञान के अधिक नज़दीक मानते रहे हैं, तो कुछ इतिहासकार यूरोपीय नवजागरणकालीन मानववाद के प्रभाव में इसे वक्तृत कला (Rhetoric) और साहित्य का अंग मानते रहे हैं। इन पंद्रहवीं सदी के इतिहासकारों की तरह ही आज के इतिहासकार भी यह तय नहीं कर पाए हैं कि इतिहास कला है, या विज्ञान। इसलिए पंद्रहवीं सदी से लेकर अबतक के इतिहास दर्शन के केंद्रीय सरोकारों में इतिहास के कला या विज्ञान होने के प्रश्न का महत्वपूर्ण स्थान है।

[1]मध्यकालीन इतिहासकारों के मुकाबले बोडिन(Jean Bodin,1530-96; the ars historica), बेकन(Francis Bacon, 1561-1626; the scientific revolution), सेल्डन(John Seldon, 1584-1654; the synthesis of history with antiquarian scholarship), ब्रैडफोर्ड(Willam Bradford, 1590-1657; Puritan history) आदि सैधांतिक रूप से अधिक धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक तरीके से इतिहास लेखन के पक्षधर थे। परंतु व्यव्हार में जहाँ सेल्डन, बेकन और बोडिन ने वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि का धार्मिक विश्वासों से विरोध माना; वहीं ब्रैडफोर्ड इसे इन विश्वासों के संगत मानते रहे। कालांतर में 18वीं शताब्दी के दार्शनिक इतिहास दर्शन के नवजागरणीय आदर्श (यथा कारण और प्रगति) में आस्था के

कारण धार्मिक विश्वासों और इतिहास दर्शन के बीच खाई और भी चौड़ी होती गई. वाल्टेयर (1694-1778) ने इतिहास दर्शन को धर्म के खिलाफ हथियार के रूप में इस्तेमाल किया और पहली बार इतिहास में सिर्फ उन्हीं चीजों को शामिल करने की बात की जिसकी सामाजिक उपयोगिता हो।* तो वहीं रोबर्टसन (William Robertson, 1721-93) ने धर्म और इतिहास के बीच समानताओं-संगतियों की खोज की। गिबन (Edward Gibbon,1734-94) ने दोनों के बीच समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाया। वहीं यूरोप की सीमा से बहुत दूर अमेरिकी महिला इतिहासकार मर्सी (Mercy Otis,1727-1814) ने संभवतः विश्व में पहली बार राष्ट्रीय इतिहास (Nationalistic history) लिखते हुए राजनीतिक व्यवस्था पर ऐसे हमले किए जो कि वाल्टेयर भी नहीं कर पाए थे। इस तरह 18वीं सदी के इतिहासकारों ने परस्पर विरोधी लगने वाले आदर्शों – कारण और धर्म (reason and religion), विद्वता और दार्शनिक इतिहास (erudition and philosophical history), इतिहास का महत्व और प्रगति में विश्वास (value of history and faith in progress) – पर एक साथ विचार किया। जहाँ इन्होनें एक तरफ अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों का अनुसरण किया वहीं उनके इतिहास दर्शन में परिष्कार-बदलाव-सुधार करते हुए उसे आगे भी बढाया। फिर 19वीं सदी के इनके परवर्ती इतिहासकारों ने इनके काम को और भी आगे बढाया।

19वीं सदी में इतिहास ज्ञान की एक अलग शाखा के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व में आई. इतिहास का राजनीतिकरण हो गया। पहली बार अतीत के अध्ययन के केंद्र में सामाजिक उपयोगिता या उससे कुछ सीखने समझने की दृष्टि नहीं बल्कि अतीत को बस जानने भर का उद्देश्य (past for its own sake) आ गया। साथ ही इस सदी में अतीत को देखने की प्रमुख रूप से दो दृष्टि उभरकर आई. पहला, इतिहास का रोमानी कला रूप (romantic art form) जिसमें घटनाओं को इस तरह प्रस्तुत किया जाता था कि पूरा अतीत मानो वर्तमान में सामने घटित हो रहा हो। इस इतिहास लेखन पद्धति में तथ्य और प्रमाण - जो कि इस दृष्टि में उतने महत्वपूर्ण नहीं माने जाते थे - को एक अखंड (समेकित, seamless) कहानी (story) और कथानक (plot) में घुलाकर नैरेटिव के सहारे एक ऐसे अतीत की रचना कर दी जाती थी जो पाठकों को बहुत ही हृदयग्राही लगे।[2] इस तरह के इतिहास लिखने वालों में बैनक्रोफ्ट (Bancroft), मोले (Motley), मैकाले (Macaulay), कार्लाइल (Carlyle), मिशेल (Michelet) आदि के नाम

* That which merits the attention of the ages.....departing from the traditional boundaries of history by making the history of social and cultural life the main subject of his Essay on Manners. – Eileen Ka-May Cheng; Historiography An Introductory Guide; Page No : 37

प्रमुख हैं। दूसरा, इतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि है, जो वैज्ञानिक पद्धतियों के प्रयोग से अतीत की वस्तुनिष्ठ जानकारी हासिल करने पर जोर देता है। वास्तव में इतिहास को लेकर गंभीर चिंतन का आरंभ सामान्य रूप से यहीं से माना जाता है।

आधुनिकतावादी दर्शन और वैज्ञानिक सोच का प्रभाव ज्ञान की सभी शाखाओं के साथ-साथ इतिहास पर भी पड़ा। पहले के सदियों के मुकाबले 19वीं शताब्दी ('Scientist' शब्द की उत्पति 1830 ई. में) में विज्ञान की इतनी अधिक प्रगति हुई कि वैज्ञानिक सोच और पद्धति ही ज्ञान और बौद्धिकता का पर्याय हो गया। सभी विषयों के विद्वान अपने विषय और क्षेत्र का वैज्ञानिक पद्धतियों के अनुसार अध्ययन किए जाने की वकालत करने लगे। समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री क्रमशः स्वयं को समाज वैज्ञानिक और राजनीति वैज्ञानिक मानने लगे। तात्पर्य कि ज्ञान की समस्त शाखाओं पर वैज्ञानिकता का प्रभुत्व हो गया। इसलिए इतिहासकार अब इतिहासकार न होकर वैज्ञानिक इतिहासकार हो गया। इतिहासकार रांके (Leopold von Ranke, 1795-1886) ने हेनरी (Henry T. Buckle, 1821-62, father of scientific history) के इतिहास के वैज्ञानिक परंतु गणितीय दृष्टि (tabular view of history) को परिष्कृत करते हुए वैज्ञानिक परंपरा के इतिहासकार बने, और इसलिए सामान्यतः इन्हें आधुनिक इतिहास दर्शन का जनक भी माना जाता है। इसके साथ ही 19वीं सदी में ही हिगेलियन और मार्क्सवादी इतिहास दृष्टि तथा ब्रेख्त (Burckhardt) की सांस्कृतिक इतिहास दृष्टि (स्थानीय इतिहास, local patriotism) आदि का तत्कालीन इतिहास दर्शन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इसके अलावा राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की परंपरा का विकास भी जोर शोर से आरंभ हुआ। यह समय व्हिग परंपरा (whig tradition), इतालियन आदर्शवाद और वैज्ञानिक निश्चयवाद (scientific positism) आदि इतिहास लेखन परंपराओं के बीच लेन-देन का भी युग था। साथ-ही-साथ ज्ञान के सभी शाखाओं (यथा समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृविज्ञान आदि) के समांतर रूप से अभूतपूर्व विकास के फलस्वरूप इतिहास दर्शन पर अनेकों प्रभाव एक ही समय में पड़ने लगे, जो इतना विस्तृत है कि उसके बारे में यहाँ चर्चा नहीं की जा सकती है। फिर भी एक पंक्ति में यदि कहना हो तो कहा जा सकता है कि मूल रूप से ये प्रभाव वैज्ञानिक रूप से इतिहास लिखे जाने की संभावना के पक्ष या विपक्ष में थे। 20वीं सदी में इतिहास दर्शन की दशा और दिशा निर्धारित करने में इन सबने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई.

हलांकि 19वीं सदी के उत्तरार्ध से ही इतिहास के एक अलग विज्ञान (historical science) की चर्चा होने लगी थी परंतु 20वीं सदी के पूर्वार्ध में अंतिम रूप से इतिहास को प्राकृतिक

विज्ञानों की तरह विज्ञान मानने की धारणा से किनारा कर लिया गया। इसी कड़ी में कोलिंगवुड (R.G. Collingwood, The idea of history,) ने लगभग यह स्थापित कर दिया कि इतिहास दर्शन और इसके अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञानों की प्रविधियाँ बहुत सहायक नहीं हैं। अभी तक इतिहास दर्शन के मूल प्रश्न वही थे कि – इतिहास क्या है? ऐतिहासिक ज्ञान (historical knowledge) कैसे(प्रविधि) प्राप्त किया जा सकता है? कोलिंगवुड तक प्रविधियों पर भले ही सहमति न हुई हो परंतु तब तक सभी कम से कम यह तो मानते ही थे कि अतीत का वास्तविक ज्ञान (knowledge of real past) प्राप्त किया जा सकता है। कोलिंगवुड संभवतः इस आधुनिकतावादी इतिहास दर्शन परंपरा के अंतिम महत्त्वपूर्ण इतिहासकार थे।

20वीं सदी के उत्तरार्ध के आरंभिक दशकों में दुनियाभर के अकादमिक जगत में बहुतेरे विमर्शों और सिद्धांतों - यथा सिमैओतिक्स, हेर्मेनुतिक्स, ओंटोलोजिकल, एंटी-एपिस्टेमलॉजीकल, एंटी-फाउंडेशनालिस्ट, फेनोमेनोलॉजी, नैरेटोलॉजी, रिप्रजेंटेशनल, संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद, विखंडनवाद, नव इतिहासवाद, स्त्रीवाद, उत्तर स्त्रीवाद, उत्तर मार्क्सवाद, नव यथार्थवाद, उत्तर आधुनिकता आदि आदि – के प्रभाव से इतिहास दर्शन का परिदृश्य इतना कुछ बदल गया है कि ई.एच. कार की उनकी पुस्तक 'इतिहास क्या है' में व्यक्त इतिहास के प्रति संशयवादी धारणा भी अब आधुनिकतावादी लगने लगी है। इन सिद्धांतों और अकादमिक विमर्शों ने दर्शनशास्त्र, विज्ञान, साहित्य, राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि विषयों के बीच की पारंपरिक विभाजन रेखाएं मिटा दी हैं। परिणामस्वरूप इतिहास में अब पुरानी आधुनिकतावादी निश्चितताओं - यथा वतुनिष्टता, तटस्थता, तथ्य, सत्य आदि - की जगह वक्तृत्व कला और उत्तरवादी (postist) विमर्शों – यथा पठन-दृष्टियाँ (readings), तुलनात्मक स्थान और स्थितियाँ (positionings), दृष्टिकोण और परिपेक्ष्य (perspectives), ग्रहणबोध (perception), रचनाएँ और संरचनाएं (constructions), सत्याभास (verisimilitude) – आदि ने ले लिया है।[3] हलांकि अकादमिक जगत में इस तरह की अनिश्चिततावादी दृष्टिकोण को अराजक घोषित करते हुए इसका लगातार विरोध भी होता रहा है।

1.2 साहित्येतिहास : दर्शन और दृष्टियाँ *

साहित्य के इतिहास के संदर्भ में अभी तक मुख्य रूप से तीन तरह की धारणाएँ प्रचलित हैं। पहला, रूपवादी-संरचनावादी-शैलीवैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक आदि साहित्येतिहास की धारणा, जो साहित्य और कला के गतिशीलता की धारणा में विश्वास नहीं करते। ये साहित्य में सौन्दर्यबोधीय तथा रूप तत्त्व को प्रधान और कथ्य को गौण मानते हुए कहते हैं कि साहित्य में यह स्थायी और शाश्वत होता है। ये साहित्य की आंतरिकता और साहित्यिकता को हरसंभव बचाने की कोशिश करते हुए मानते हैं कि साहित्येतिहास अनावश्यक और असंभव है। यदि लिखा भी गया तो यह स्वतंत्र और पृथक रचनाओं का श्रृंखला मात्र रह जाएगा। दूसरा, वस्तुवादी साहित्येतिहास की धारणा, जो साहित्य की सापेक्षिक और संभवतः आंशिक स्वतंत्रता को स्वीकार करते हुए उसकी विकास प्रक्रिया को जीवन और समाज के विकास प्रक्रिया से जुड़कर चलने वाला मानते हैं। तीसरा, पहले और दूसरे के बीच की समन्वयवादी साहित्येतिहास धारणा, ये साहित्य को गतिशील प्रक्रिया तो मानते हैं, परंतु साथ ही स्वायत भी मानते हैं। ये साहित्य के रूप और वस्तु संबंधी रचनात्मक प्रवृतियों और अभिव्यक्तियों की विकासशीलता साहित्य के अन्दर ही खोजते हैं। यहाँ इस शोध की पीठिका के रूप में इन तीनों ही तरह के मतों की थोड़ी अधिक विस्तार से चर्चा की जाएगी जिससे वर्तमान समय के साहित्येतिहास दर्शन की मूल संकल्पनाओं और बहसों को जानकर इस शोध की प्रासंगिकता, उपयुक्तता और गंभीरता को समझने में सहायता मिले।

अबतक साहित्येतिहास प्रमुख रूप से जीवशास्त्रीय, यांत्रिक भौतिकवादी, नव-आदर्शवादी, समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी साहित्येतिहास दर्शन के अनुसार लिखा गया है। फर्दिनेंड ब्रुनेतियर तथा जॉन एडिंगटन के जैवकीय साहित्येतिहास दर्शन के अनुसार साहित्यिक परंपराएँ भी प्राणियों की तरह जन्मती हैं, यौवन को प्राप्त होती हैं, और अंत में नई जटिल और उत्कृष्ट परंपराओं को जन्म देकर स्वयं नष्ट हो जाती हैं। रेनेवेलक ने इस धारणा का खंडन करते हुए कहा है कि – "त्रासदी इस अर्थ में मृत्यु को प्राप्त हुई क्योंकि ब्रुनेतियर के आदर्श के अनुसार वाल्तेयर के पश्चात कोई महत्वपूर्ण त्रासदी नहीं लिखी गई. परंतु इसकी सम्भावना तो है कि भविष्य में फ्रांसीसी भाषा में कोई महत्वपूर्ण त्रासदी लिखी जा सकेगी।.....यह विचार और भी युक्तिहीन है कि साहित्यिक रूप अन्य साहित्यिक रूपों में रूपांतरित हो जाते हैं"।[4] और

*यह उप-अध्याय के लेखन में डॉ. मनैजर पाण्डेय की पुस्तक 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' के 'खंड एक : साहित्येतिहास लेखन की सैधांतिक समस्याएं' अध्याय से बहुत अधिक सहायता मिली है।

साधारणतः यह हमेशा संभव नहीं है कि नई परंपरा पहले की परंपराओं से उत्कृष्ट ही हो। फिर साहित्य रचना प्रक्रिया भौतिकी या जीवविज्ञान आदि से नितांत भिन्न होती है। इस चक्रीय प्रगति के अवधारणा की नई व्याख्या करते हुए आर्थर कोएस्लर ने कहा कि "विज्ञान और कला में प्रगति न तो पूर्ण रूप में होती है और न अनवरत; वह काल विशेष में एक सीमित अर्थ और निश्चित दिशा में होती है"।[5]

जैवकीय सिद्धांत से प्रभावित स्पेंगलर, टाएनबी तथा सोरोकिन जैसे नव-आदर्शवादी इतिहासकारों के अनुसार प्रत्येक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मूल कारण चेतना तत्व की अभिव्यक्ति है, तथा संस्कृति और साहित्य चक्रीय रूप में गतिशील होकर अंत को प्राप्त होते हैं। स्पेंगलर का मानना था कि "कलाओं की भी निश्चित जीवनरेखा हो सकती है। इसलिए कला का समस्त इतिहास विशिष्ट कलाओं के विभिन्न ऊत्थानों का संपादकीय संकलन मात्र बन जाता है, जिसमें नामों और शिल्प के विवरण के अतिरिक्त एकता का कोई संबंध नहीं होता"।[6] टाएनबी के 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में ऐतिहासिक विकास के दो सिद्धांतों – चुनौती (Challenges) तथा प्रत्युत्तर (Responses) और प्रत्याहरण (Withdrawal) तथा प्रत्यागमन (Return) - में से पहले के अनुसार, "मनुष्य और सभ्यता का विकास बाहरी दवाबों और आघातों का उत्तर देते हुए होता है। और दूसरे के अनुसार, सभ्यता और संस्कृति का विकास सर्जनात्मक प्रतिभाएं प्रत्याहरण और प्रत्यागमन के माध्यम से संभव बनाते हैं"।[7] परंतु साहित्य का विकास सदा बाहरी और आंतरी चुनौतियों से नहीं होता और ना ही अन्य सभी परिस्थितियों से कटकर सृजनशील अल्पसंख्यक (Creative minority) साहित्य का विकास करते हैं। सच तो यह है कि टाएनबी का इतिहास दर्शन सामान्य इतिहास लेखन के लिए भी बहुत उपयुक्त नहीं है। व्यक्तिगत पौरुष से इतिहास की दिशा अधिक नहीं बदलती है। सोरोकिन ने 'सोशल एंड कल्चरल डायनामिक्स' में अपने तीन प्रमुख 'सामाजिक-सांस्कृतिक अधिव्यवस्थाओं (socio-cultural super systems) के अनुरूप साहित्य के इतिहास के अंतर्गत तीन युगों - भावात्मक, ऐन्द्रिय और आदर्शात्मक - की परिकल्पना की है, और साहित्य के चक्रीय सिद्धांत को न्यायसंगत बताते हुए कहा है कि – "सांस्कृतिक व्यवस्था की तरह साहित्य भी चरम स्थिति को प्राप्त कर विपरीत दिशा की ओर मुड जाती है, और यह क्रम बार बार दोहराया जाता है। इनके अनुसार परिवर्तन लाने वाली शक्ति बाहरी नहीं स्वयं संस्कृति और साहित्य के प्रकृति में हीं निहित है"।[8] बाह्य प्रभाव को महत्व नहीं देने के कारण यह भी एक आदर्शवादी इतिहास दर्शन बन जाता है।

हिप्पोलाईत तेन के बहुत ही प्रसिद्ध और उतना ही विवादित भौतिकवादी(विधेयवादी) साहित्येतिहास दर्शन के अनुसार- जाति, वातावरण और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ(क्षण या युग) साहित्य के विकास की दिशा को नियंत्रित करते हैं। परंतु बहुतेरे विद्वानों ने इस तरह के सिद्धांत को यांत्रिक और अपूर्ण माना है। लुई कजामियां ने इसे निर्णयवादी धारणा मानते हुए कहा है कि – "साहित्य का विकास राष्ट्र के मस्तिष्क(राष्ट्रीय प्रज्ञा) के विकास का अनुगामी है"।[9] विधेयवादी दर्शन की एक कमी यह भी है कि उसने साहित्य के विकास में व्यक्तिगत नैसर्गिक प्रतिभा(प्रज्ञा) और साहित्यिक परंपराओं भूमिका को महत्त्व नहीं दिया है। राबर्ट याकोब्सन ने विधेयवादी प्रणाली की आलोचना करते हुए लिखा है कि "साहित्य के इतिहासकार जीवनीपरक साक्ष्य, मनोविज्ञान, राजनीति और दर्शन आदि को महत्व देते हैं और इस प्रक्रिया में साहित्य का विज्ञान विकसित करने के बदले दर्शन, मनोविज्ञान तथा संस्कृति का इतिहास लिखते हैं'।[10]

अबतक साहित्य के विकास की व्याख्या करने वाले सभी व्यावहारिक साहित्येतिहास दर्शनों में जी. प्लेखानोव का ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन - जिसे दूसरे इतिहासकारों ने और अधिक विकसित, विवेचित और विश्लेषित किया है - सबसे अधिक लोकप्रिय और साहित्य के इतिहास की सम्यक व्याख्या करने में सक्षम है। इसके अनुसार साहित्य का विकास सामाजिक गत्यात्मकता और मानवीय प्रगति के तरह ही सर्पाकार है। साहित्य समाज से ही नहीं वरण समाज को भी प्रभावित करता है। साहित्य में वस्तु, भाषा और शिल्प को अलग-अलग नहीं बल्कि एक इकाई के रूप में रखकर इसके विकास को समझना आवश्यक है। चुकि किसी नई साहित्यिक धारा का मूल स्त्रोत किसी महान साहित्यकार की प्रतिभा न होकर समाज होता है, इसलिए किसी एक को प्रवर्तक मानना भ्रांतिपूर्ण है। क्रोबर के अनुसार- "कला, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि क्षेत्रों में प्रतिभाओं का उदय एक्का-दुक्का नहीं, बल्कि झुण्डों के रूप में होता है"।[11] साहित्यकार के भावबोध, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के तरह साहित्यिक मूल्य भी परिवर्तनशील है, जिसकी खोज साहित्य के इतिहास में आवश्यक है। साहित्यकार की साहित्यिक गतिविधियाँ ऐतिहासिक और वर्गसंघर्ष के वातावरण में घटित होती हैं। परंतु "साहित्य का विकास आर्थिक प्रभाव का प्रत्यक्ष परिणाम नहीं है"।[12] आर्थिक, सामाजिक, राजनितिक परिवर्तन ज्यों का त्यों साहित्य में परिलक्षित नहीं होता। बल्कि इसके परिणामस्वरूप संस्कृति और मानवीय संबंधों में आए बदलाव की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। "समृद्ध संस्कृति में कला की प्रगति प्रचलित सामाजिक रुचियों, परंपराओं और मूल्यों के

अनुरूप कई स्तरों और सतहों तथा कई दिशाओं में होती है"।[13] ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन के अंतर्गत ही एलेमर हॉकिन्स के साहित्य के विकास के सात नियमों की विवेचना मनैजर पाण्डेय[14] ने की है। सार रूप में वे ये हैं -

I. रचनाकार नया सृजन करके स्थापित परंपरा में परिवर्तन करता है, जिसे नवोन्मेष का नियम कहते हैं।
II. नवीनता और निरंतरता में द्वंदात्मक संबंध होता है।
III. कालप्रवाह में प्रवृतियों का घटना-बढ़ना चलता रहता है।
IV. आवयविक सिद्धांत विवादस्पद होने के वाबजूद साहित्येतिहास के लिए ऊपयोगी है।
V. कलाकार के अनुभूति के अभिव्यक्ति की आकांक्षा से अभिव्यंजना रूपों का विकास होता है।
VI. नए अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार परंपरागत रचना रूपों में परिवर्तन करता है।
VII. परवर्ती रचनाकारों के लाभ हेतु साहित्येतिहास में पुराने का संचयन और संरक्षण होता है।

कहने का तात्पर्य कि साहित्य में नई प्रवृतियाँ जन्मती हैं, उनका पुराने से संघर्ष होता है, विभिन्न तरह के प्रयोग – वस्तु और रूप दोनों स्तर पर - होते रहते हैं, और यह क्रम निरंतर चलता रहता है। साहित्येतिहास में इन्हीं सब बातों का विश्लेषण-विवेचन होता है। परंतु कभी कोई परिवर्तन ऐसा नहीं होता जो अतीत और भविष्य से पूर्ण रूप से भिन्न हो। फिलिप राहव ने लिखा है - "ऐतिहासिक काल के भीतर ही पाठ के संदर्भ का बोध हो सकता है"।[15] ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास के संदर्भ में अतीत और वर्तमान के अलगाव को अस्वीकार करता है। वाल्टर बेंजामिन ने लिखा है – "इतिहासवाद अतीत का शाश्वत बिंब उपस्थित करता है लेकिन ऐतिहासिक भौतिकवाद अतीत को वर्तमान के अनुभव के रूप में प्रस्तुत करता है"।[16] परंतु इतनी विस्तृत ऐतिहासिक भौतिकवादी साहित्येतिहास दर्शन भी साहित्य और परिणामतः साहित्य के इतिहास की समग्र (खासकर कलात्मक और साहित्यिक) विशिष्टताओं और जटिलताओं की सम्यक और तर्कसंगत व्याख्या करने में अभी तक सक्षम नहीं हो पायी है।

आलोचकों का मानना है कि ऐतिहासिक प्रणाली में रचनाओं की उपेक्षा होती है। तथ्यों, तिथियों, स्त्रोतों आदि की प्रमाणिकता आदि पर काफी बल दिया जाता है। आलोचना जीवनीपरक हो जाती है। कलाबोध की हानि होती है। इतिहास की धारणा प्रमुख हो जाती है

और साहित्य गौण हो जाता है। ऐतिहासिक पद्धति ऐसे परिवर्तनों की व्याख्या करने में अक्षम है जो परंपरा से नहीं, रचनाकारों की प्रतिभा से उत्पन्न होते हैं। यह पद्धति तथ्यों पर निर्भर है जबकि ऐतिहासिकता रचना से सम्बंधित ऐतिहासिक तथ्यों का कुल योग मात्र नहीं है बल्कि ऐतिहासिकता ऐतिहासिक कल्पना शक्ति से निर्मित एक मूल्य है जिससे रचना का मूल्यांकन होता है।

संभवतः इसीलिए अन्य प्रविधियों से भी साहित्येतिहास लेखन के प्रयास हो रहे हैं। यथा, समस्त कला को माध्यम(भाषा) का पर्याय समझने वाले विचारक साहित्य के इतिहास को समस्त कलाओं के समन्वित इतिहास के अंतर्गत लिखने के प्रयास कर रहे हैं। ऐसा वे कलाओं के समग्र इतिहास को वैज्ञानिक बनाने के नाम पर कर रहे हैं। "समग्र इतिहास की धारणा के समर्थक विचारकों का एक वर्ग कलाओं के इतिहास के संस्कृतिकरण का प्रयत्न करता है तो दूसरा वर्ग संस्कृति के सौंदर्यबोधीकरण का। कुछ साहित्य चिंतक कलाओं में निहित केंद्रीय तत्वों की व्यवस्था खोज करने के प्रयास के साथ-साथ कलाओं का समन्वित इतिहास बना रहे हैं। यह काम संरचनावादी एक तरह से, शैलिविज्ञानी दूसरे तरह से तथा नार्थ्रोप फ्राई जैसे आलोचक तीसरे तरह से कर रहे हैं"।[17] परंतु इस तरह के प्रयासों की अपनी सीमाएँ और समस्याएँ हैं।

संरचनावादी "साहित्य को भाषा का पर्याय मानते हैं तो साहित्यिक कृति को भाषिक संरचना और भाषा के अध्ययन के सहारे साहित्य का विज्ञान विकसित करना चाहते हैं। ....उनका विचार है कि भाषा की मूलभूत संरचनाएं सार्वभौम हैं, साहित्य भाषा का ही विशेषीकरण है; इसलिए साहित्य की संरचना को भाषिक संरचना के रूप में समझा जा सकता है। संरचनावादी बार्थ का विचार है कि "साहित्यिक कृतियों को मिथ मानने पर ही साहित्य का विज्ञान संभव है। संरचनावादी फूको का कहना है कि साहित्य से हमारा संबंध या तो व्याख्यात्मक हो सकता है या विश्लेषणात्मक। साहित्य का विज्ञान विश्लेष्णात्मक संबंध को स्वीकार करता है और आलोचनात्मक संबंध को अस्वीकार"।[18]

"इस(बीसवीं) शताब्दी के पहले दशक में सास्युर के भाषावैज्ञानिक चिंतन से संरचनावाद का उदय हुआ। .....सास्युर ने भाषा संबंधी संरचनाओं के समकालिक और ऐतिहासिक दोनों रूपों को विवेच्य माना था। उसने सामाजिक रुढियों को शब्द की ध्वनि और अर्थ के बीच संबंध और एकता का आधार स्वीकार किया था। लेकिन इस शताब्दी के मध्य विकसित फ्रांसिसी संरचनावाद ने सास्युर के संरचनावादी दृष्टिकोण में निहित सामाजिकता और ऐतिहासिकता को

बहिष्कृत करते हुए संरचनाओं के समकालिक अर्थ और रूप को ही स्वीकार किया तथा शब्दार्थ के विकास में सहायक सामाजिक पक्ष की उपेक्षा की"।[19] उधर, साहित्यानुशीलन के संदर्भ में भाषिक मीमांसा का विकसित रूप रूसी रूपवादी चिंतन में दिखाई पड़ा। "विक्टर शक्लोव्सकी और बी. एम. आइकेनबाम ने 1920 के आसपास साहित्याचिन्तन में रूपवाद की स्थापना की। और इस रूपवाद के समान्तर ही एम. एम. बर्वातिन तथा वी. आ. प्राप आदि ने साहित्य और लोक कथाओं के विवेचन में संरचनात्मक विश्लेषण पद्धति का विकास किया। रूस के इन संरचनावादियों के साहित्य चिंतन में रूपात्मक विश्लेषण ऐतिहासिक विश्लेषण का अंग था, उसमें दोनों का समन्वय था। कुछ लोग यह समझते हैं कि संरचनावाद फ्रांस की उपज है, लेकिन सच्चाई यह है कि संरचनावाद का मूल स्त्रोत रूस के भाषा और साहित्य संबंधी रूपवादी और संरचनावादी साहित्य चिंतन में निहित है। फ्रांसीसी संरचनावाद के संस्थापक लेवी-स्ट्रास ने रूसी संरचनावादी विचारक व्लादीमीर प्राप और रूस से प्राग स्कूल में आए हुए रोमन याकोब्सन से काफी कुछ सिखा। संरचनावाद के रूसी उद्भव पर विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि रूसी रूपवाद और संरचनावाद में अनेक समानताओं के बावजूद आधारभूत अंतर है। रूपवादी विचारक साहित्य को एक विकासशील प्रक्रिया मानते थे। उनके विश्लेषण में प्रक्रियाओं के खोज पर बल दिया जाता था और साहित्यिक प्रक्रिया को दूसरी सामाजिक प्रक्रियाओं से पूर्णतः स्वतंत्र और विच्छिन्न नहीं माना जाता था।[20] परंतु बाद के संरचनावादी जिन संरचनाओं की साहित्य या कला में खोज करते हैं, उसका इतिहास प्रक्रिया और सामाजिक विकास से कोई संबंध नहीं होता। बस संरचनाओं की सतत वर्तमानता या समकालीनता ही महत्वपूर्ण होती है। रूसी रूपवादी कला में रूप और वस्तु का अंतर स्वीकार करते हुए भी रूप को वस्तुनिर्धारक और वस्तु से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे जबकि संरचनावादी वस्तु और रूप के द्वन्द को अस्वीकार करते हैं।

लेवी स्त्रास और रोलां बार्थ के संरचनावादी चिंतन के प्रमुख प्रचारक बनने से पहले, फ्रांस में आधुनिक साहित्येतिहास के जनक और साहित्येतिहास चिंतन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रवर्तक गुस्ताव लासों के साहित्येतिहास संबंधी विचारों का प्रभाव बीसवीं शताब्दी के शुरूआती चार दशकों तक रहा। रोलां बार्थ ने लासों के विचारों का खंडन करते हुए साहित्येतिहास का नया दृष्टिकोण - संरचनावादी दृष्टिकोण – का प्रतिपादन किया। बार्थ का कहना है कि – "लासों के इतिहास दर्शन के मूल में एक ऐसी विचारधारा है जिसकी

अभिव्यक्ति नियतिवाद और तथाकथित वस्तुनिष्टता में होती है। इसमें कला की एक ऐसी धारणा है जो ऐतिहासिक प्रतीत होते हुए भी इतिहास विरोधी है"।[21]

"बार्थ ने जीवनीपरक, कालक्रमिक या सौन्दर्यबोधीय साहित्येतिहास दृष्टि के बदले साहित्य के कार्यात्मक रूप पर आधारित इतिहास दृष्टि की स्थापना का प्रयास किया है। जिसमें रचना के अधिक आस्वादन और कृति तथा कृतिकार से अधिक पाठक और उसकी मानसिकता पर ध्यान दिया जाता है। इस इतिहासदृष्टि के अंतर्गत एक संपूर्ण काल की कलानुभुती का विवेचन आवश्यक है। साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण बात जीवनीपरक तथ्यों की खोज नहीं बल्कि साहित्य संबंधी टेकनीक, नियम और सामूहिक मानसिकता की गतिविधि का अनुशीलन है। रोलां बार्थ के साहित्य चिंतन की एक कठिनाई यह है कि उनकी कार्य की धारणा से अनेक उलझनें उत्पन्न होती है। एक ओर वो 'उत्पादन, सम्प्रेषण और आस्वादन' के संदर्भ में कार्य पर विचार करते हैं, फिर दूसरी ओर वे रचना के पाठ का विशुद्ध सौन्दर्यबोधीय दृष्टि से अन्तस्थ विश्लेषण करना चाहते हैं। राबर्ट बाईमन ने लिखा है कि बार्थ जब संरचनावाद को प्रतीकात्मक चेतना से निदार्शनात्मक चेतना में संक्रमण के रूप में परिभाषित करते हैं तब साहित्येतिहास के अपने दृष्टिकोण से वे साहित्य के संदर्भपरक और अनुकरणशील कार्य को तथा उस सामाजिक सम्बद्धता को बहिष्कृत कर देते हैं जो महान संरचनात्मक परिणामों से भरपूर क्रियाशील क्षण होता है। बार्थ के इस दृष्टिकोण से अंततः साहित्य और इतिहास के संबंध में सवाल पैदा होता है और बार्थ साहित्य की रक्षा के लिए इतिहास का बलिदान बेहतर समझते हैं। बार्थ इतिहास में आत्मपरकता और वैक्तिकता के पूर्ण बहिष्कार को इतिहास और आलोचना की वस्तुनिष्टता के लिए अनिवार्य मानते हैं। बार्थ यह नहीं मानते कि कलात्मक या सामाजिक आत्मपरकता से इतिहास प्रक्रिया की सामाजिकता निर्मित होती है। रचनाकार के कीमत पर साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास बनाने के प्रयास में बार्थ ने काव्य संबंधी आत्मपरकता की पूर्णतः उपेक्षा की है"। .....बार्थ ने 1963 में लिखा था - "अगर साहित्य का इतिहास अंततः तकनीकों का इतिहास है तो इसलिए नहीं की साहित्य केवल तकनीक है, बल्कि इसलिए कि केवल तकनीक ही बोध को स्थगित करने और आवश्यक प्रश्नों को खुला रखने में सक्षम है। उत्तर देना उतना कठिन नहीं है जितना कि प्रश्न पूछना; प्रश्न मुखर होता है, लेकिन उत्तर मौन होता है।

बार्थ के अनुसार साहित्यारूपों, तकनीकों और रचनाविधाओं के आधार पर अलग-अलग कालों के साहित्य का इतिहास निर्मित हो सकता है। कहा जा सकता है कि बार्थ की संरचनावादी इतिहास दृष्टि अंततः रूपवादी इतिहास दृष्टि ही सिद्ध होती है"।[22] फिर यान

मुकरोव्स्की भी मानते हैं कि साहित्य का विकास संरचनाओं के संघटकों के निरंतर आतंरिक पुनर्व्यवस्थापन से प्रेरित होता है, और बाहरी दवाबों से साहित्यारूपों का विकास एक सीमा तक ही प्रभावित होता है। इस तरह यदि साहित्य एक भाषिक संरचना है तो प्रश्न यह है कि वह दूसरे प्रकार की भाषिक संरचनाओं से किस प्रकार अलग है। संरचनावादी जब साहित्यिक भाषिक संरचना और दूसरी भाषिक संरचनाओं में अंतर करते हैं या किसी भाषा की विशेषता का विवेचन करते हैं तो किसी रचना को साहित्यिक कृति मानने का आधार प्रायः रचना की साहित्यिकता की लोकस्वीकृति ही होती है। साहित्य संबंधी संरचनावादी मान्यताओं पर विचार करते हुए इसकी पांच विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं।[23]

I. संरचनावाद के अनुसार किसी कृति के संरचनाओं के विश्लेषण के माध्यम से उसका अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में विचारात्मक आग्रहों के कारण रचना पर बाहरी अर्थ का आरोप नहीं होता।
II. ऐतिहासिक और जीवनीपरक आलोचनापद्धातियों से उत्पन्न मोहभंग की समस्या का समाधान संरचनावादी पद्धति से हो जाता है।
III. ऐसा कोई भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण जो पाठ के संदर्भ में अभिप्राय या स्त्रोत की अवहेलना करता है, परोक्षतः संरचनावादी ही है।
IV. चुकि संरचनाओं की अनुभूति न तो सर्जनात्मक चेतना को होती है न आलोचनात्मक चेतना को, बल्कि संरचनाओं से एक बुनियादी ढांचा निर्मित होता है, इसलिए सर्जनात्मक विश्लेषण मनोविश्लेषण या मार्क्सवाद से प्रभावित वर्गीकरण की पद्धति से मुक्त होता है।
V. संरचनावाद देशकाल की दृष्टि से दूरस्थ रचनाओं के विश्लेषण में सर्वाधिक सफल होता है, लेकिन एक आलोचक समकालीन रचना की संरचनात्मक व्याख्या करके उसका नया अर्थ उदघाटित कर सकता है।

रूपवादी याकोब्सन का कहना है कि – "अगर साहित्य के इतिहास को विज्ञान होना है तो उसे कौशल(डिवाइस) को साहित्यानुशीलन का एकमात्र विषय बनाना होगा। याकोब्सन के अनुसार साहित्य की साहित्यिकता और कविता का काव्यत्व भाषिक कौशल से ही निर्धारित होते हैं। इसके अनुयायी शैलीवैज्ञानिक भाषिक कौशल और विचलन को ही अपने अध्ययन का मुख्य विषय मानते हैं"।[24] बार्थ भी "साहित्य के विश्लेषण में अंतर्वस्तु और रूप के द्वैत का विरोध करते हुए केवल रूप की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि साहित्यिक कृति केवल

भाषिक संरचना है, जो केवल रूप है और उसकी कोई अंतर्वस्तु नहीं होती। सारतः पाठ अपनी संपूर्णता में वस्तुहीन रूपों की अनेकता है। स्वभावतः साहित्यिक रचना के बारे में बार्थ के इस निपट रूपवादी धारणा पर आधारित शैलीविज्ञान में रचना के केवल रूप की संरचनाओं का ही अध्ययन होगा। स्वयं रोलां बार्थ शैली विज्ञान का प्रयोजन रूप के विभिन्न स्तरों की खोज मानते हैं"।[25] बार्थ के 'लेखक की मृत्यु' शीर्षक लेख में लेखन के भविष्य के लिए पाठक के जन्म की अनिवार्य शर्त लेखक की मृत्यु है। बार्थ के अनुसार रचना में लेखक नहीं भाषा क्रियाशील होती है। स्पष्ट है कि संरचनावादी चिंतन में मनुष्य और उसकी संवेदना का स्थान भाषा ने ले लिया है। माइकल वुड ने इसी प्रवृति की आलोचना करते हुए लिखा है कि "मनुष्य की दुनिया में ही भाषा की सार्थकता और अर्थवत्ता है, लेकिन संरचनावाद की भाषा की दुनिया में मनुष्य के लिए कोई जगह नहीं है"।[26]

"संरचनावाद में लेखक की बलिवेदी पर पाठक पैदा हुआ लेकिन संरचनावाद के परवर्ती विकास में विशेष रूप से पाठक और पाठक के बीच संवाद के विश्लेषण के संदर्भ में पाठक का मानवीय पक्ष भी साहित्य चिंता के परिदृश्य से गायब होता जा रहा है। एम.एच. अब्राम्स ने इस नए पठनयुग के साहित्यविश्लेषण में मानवीय पक्ष की अनुपस्थिति पर विचार करते हुए लिखा है कि फूको, देरिदा, फिश, हेराल्ड ब्लूम आदि की पाठ, पठनक्रिया और पाठ पाठक संबंध के विश्लेषण की पूरी साहित्यचिंता मानवीय सरोकारों से रिक्त है। इस नए साहित्य विश्लेषण में लेखक लेखन में और पाठक पठन में गलकर गायब हो जाते हैं; और बच जाता है केवल अमानवीय पाठ। इस प्रकार की साहित्य चिंता के आधार पर लिखा गया साहित्य का इतिहास मानवविरोधी इतिहास होगा"।[27]

नवमार्क्सवादियों के अनुसार संरचनावादी और रूपवादी साहित्येतिहास चिंतन से प्रभावित इतिहास के सहारे पूँजीवादी समाज आम पाठकों को बुजुर्वा व्यवस्था का अंग बनाये रखने की चालाकी करता है। इसलिए इन लोगों ने साहित्येतिहास का विरोध किया है। इसके अलावा वे इतिहास के पुरातात्विक स्वरुप का भी विरोध करते हैं जिसका वर्तमान की चेतना से कोई संबंध नहीं है। इतिहास का ऐसा स्वरुप जिसमें अतीत की रचनाओं को अतीत के अनुभव के रूप में या अतीत को शाश्वत अनुभव के रूप में उपस्थित किया जाता है, वर्तमान के अनुभव के रूप में नहीं। ज्यां ब्रांड कोर्तियस ने लिखा है कि – इतिहास के प्रति "समकालीन उदासीनता का एक कारण साहित्येतिहास का वह रूप भी है, जिसका वर्तमान से कोई संबंध नहीं"।[28] हालाँकि यह भी ध्यान देने योग्य है कि मार्क्स ने यूनानी कला पर विचार करते हुए लिखा है कि – "तदयुगीन

विशिष्ट सामाजिक विकास से यूनानी कला और महाकाव्यात्मक कविता के संबंध का बोध कठिन नहीं है बल्कि वर्तमान काल में उनकी कलात्मक श्रेष्टता और सौन्दर्यबोधीय आनंद प्रदान करने की क्षमता का विश्लेषण करना कठिन काम है"।[29]

"लुसिए गोल्डमान कांत, हीगेल, मार्क्स और लुकाच की विचार परंपरा का अनुसरण करते हैं। इन्होनें अनैतिहासिक संरचनावादी विश्लेषण पद्धति का खंडन करते हुए ऐतिहासिक दृष्टि से सार्थक संरचनाओं का विश्लेषण करके, समग्रता की द्वंदात्मक धारणा का प्रतिपादन किया है। ये विशुद्ध संरचनावादी चिंतन को संगठित पूंजीवाद का संस्कृति विरोधी और मानव विरोधी व्यवस्था का पोषक मानते हैं"।[30] इन्होनें संरचना और कार्य के पारस्परिक संबंध की व्याख्या करते हुए संरचनाओं की परिवर्तनशीलता और निरंतर संघटन और विघटन को स्वीकार किया, और संस्कृति और साहित्य के इतिहास दर्शन के संदर्भ में ऊत्पत्तिमूलक संरचनावादी विचार विधि की स्थापना की। गोल्डमान के अनुसार साहित्य के इतिहास में कलाकृति और उस सामाजिक समूह के संबंधों का अध्ययन होता है, जिसमें कलाकृति उत्पन्न होती है और उसके बाद रचना के प्रभाव से निर्मित मानस की बौद्धिक संरचनाओं और उनके परिवेश के बीच संबंधों का अध्ययन होता है। गोल्डमान के इतिहास दर्शन की केंद्रीय धारणा 'विश्वदृष्टि' की धारणा है, जो कृति की रचना के कारणत्व और कृति के प्रभाव से निर्मित मानसिकता के संदर्भ में विचारणीय है।

"हर प्रकार के सांस्कृतिक सृजन के मूल में निहित विश्वदृष्टि की धारणा पर बल देते हुए गोल्डमान ने कहा की एक विश्वदृष्टि एक समय में सर्जनात्मक और प्रगतिशील होती है, वही परवर्ती काल में परिवर्तित यथार्थ के बदले हुए संबंध के कारण, चेतना को जड़ीभूत करने वाली बन जाती है। .....गोल्डमान के अनुसार साहित्यानुशीलन में तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहला, रचना के सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष के विवेचन। दूसरा, रचना में निहित एकता के बदले विविधता का बोध। तीसरा, व्यक्ति की आकांक्षाओं और समाजव्यवस्था के बीच द्वन्द के स्वरुप की पहचान। गोल्डमान के विचारों की आलोचना करते हुए राबर्ट बाईमन ने लिखा है कि "गोल्डमान के साहित्यिक रूप और यथार्थ के कार्य कारण संबंध तथा समानधर्मी रचनाओं के विचार से साहित्य के इतिहास चिंतन को कोई विशेष मदद नहीं मिलती, उससे साहित्येतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या यानि उत्पति और मूल्य की एकता तथा अंतर्विरोध की समस्या का कोई संतोषप्रद हल नहीं मिलता है। ....राबर्ट ने लिखा है – रचना के स्वरुप उपादान और माध्यम के नए रूप के विकास तथा रचना और पाठक के नए संबंध के विकास के

कारण आधुनिक काल में साहित्य तथा दूसरी कलाओं के इतिहास के स्वरुप में परिवर्तन आवश्यक हो गया है। साहित्य के इतिहास में अब ये आवश्यक हो गया है कि इतिहास और मूल्य की समस्या को अब दूसरी कलाओं के साथ भी जोड़कर देखा जाए"।[31]

साहित्येतिहास लेखन के संबंध में "शैलीविज्ञान की बुनियादी मान्यता यह है कि साहित्य मूल पाठों से बनता है, न कि लेखकीय अभिप्रायों से। पाठ शब्दों से बनता है, विचारों और वस्तुओं से नहीं। साहित्य का स्वरुप पाठ और पाठक के संबंध से निर्धारित होता है, लेखक और पाठ के संबंध से नहीं। उनके अनुसार साहित्य के इतिहास लेखन में शैलीविज्ञान का उपयोग इन बातों की खोज के रूप में हो सकता है – पहला, साहित्यिक प्रभाव का आकलन; दूसरा, प्रवृतियों और विधाओं के पाठ के संबंध की खोज; तीसरा, पाठकों की पीढ़ी दर पीढ़ी के साथ पाठ के बदलते अर्थ की खोज और चौथा, पाठ के मूल महत्व की खोज। .....पाठ के मूल अर्थ की पुनर्रचना का उद्देश्य लेखक के अभिप्रेत अर्थ तक पहुंचना है। रचना के मूल अर्थ की खोज रचना के समकालीन पाठकों की प्रतिक्रियाओं से संभव है। लेकिन कठिनाई यह है कि अत्यंत प्राचीन रचनाओं के समकालीन पाठकों के प्रतिक्रियाओं का ज्ञान कैसे हो? इतिहास लेखन में शैली विज्ञान प्राचीन रचनाओं के मूल अर्थ की खोज करते हुए विशेष सहायक नहीं हो सकता; क्योंकि रामायण और महाभारत जैसी रचनाओं के रचनाकाल के पाठकों की प्रतिक्रिया जानना लगभग असंभव है"।[32] फिर यह कहना सही नहीं है कि पाठ का मूल अर्थ प्रमाणिक होता है और परवर्ती अर्थबोध घटिया।

"शैलीविज्ञान पाठ के विश्लेषण में जिस भाषिक संरचना को केंद्रीय तत्त्व मानता है, वह भाषिक संरचना ही साहित्यिक कृति के कलात्मक रूप की समग्रता नहीं है। साहित्य में भाषिक संरचना के साथ जो संदेश या सौन्दर्यबोधीय आयाम होता है, उसकी मीमांषा के बिना न तो आलोचना संभव है न इतिहास। शैलीवैज्ञानिक आलोचना अंतरवर्ती आलोचना है, वह कृति को बाह्य यथार्थ से जोड़कर देखने परखने का काम नहीं करती"।[33] परंतु इतिहास में रचनाकार, रचना और रचनात्मक प्रवृतियों का समान महत्व है। शैलीविज्ञान रचनाकार और रचना के ऐतिहासिक संदर्भ की उपेक्षा करता है। "यही कारण है कि कुछ साहित्य विचारक शैली विज्ञान की प्रचलित सीमाओं को तोड़कर साहित्य की भाषा और शैली के विश्लेषण के माध्यम से उसकी कलात्मकता और सामाजिकता की खोज करने वाली विवेचन पद्धति का विकास कर रहे हैं। इस नई पद्धति में रचना को मानवीय कृति और भौतिक वास्तविकता मानकर उसमें व्यक्त वस्तु और चेतना के द्वंदात्मक संबंध की खोज की जाती है। .....साहित्य के इतिहास में शैली विज्ञान

का एक दूसरे तरह का भी उपयोग हो सकता है। उसके सहारे जैसे एक रचना के शैली का विश्लेषण होता है, वैसे ही एक रचनाकार के सभी रचनाओं की शैली का विश्लेषण करके उसकी सामान्य विशेषताओं को सामने लाया जा सकता है। इस प्रक्रिया को और अधिक विकसित करके एक युग के लेखकों की शैली, एक विधा के अधिकांश महत्वपूर्ण रचनाकारों की शैली और एक साहित्य के शैली संबंधी परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तनों से जोड़कर देखे तो साहित्य के विकास की अनेक महत्वपूर्ण विशेषताओं का उद्घाटन होगा। साहित्यिक कृति में शैली केवल भाषा का एक पक्ष नहीं है, उसमें रचनाकार की यथार्थदृष्टि और रचनादृष्टि की भी अभिव्यक्ति होती है। यही नहीं शैली का संबंध रचनाकार के युग और समाज से भी होता है। साहित्यिक आन्दोलनों के परिवर्तन और विकास के प्रभाव शैली में लक्षित होते हैं। शैली के परिवर्तन और विकास को रचनाकारों के यथार्थबोध और रचनाशीलता के विकास संबंध का इतिहास आरबाख के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मैमेसिस' में दिखाई देता है। यह रूढ़ अर्थ में साहित्य का इतिहास नहीं है, लेकिन अनेक नामधारी पुस्तकें इसके सामने निरर्थक लगती हैं। यह यूरोपीय साहित्य में यथार्थ बोध, युगचेतना और साहित्य विवेक के विकास का इतिहास है"। .....कला के इतिहास में नई शैली का आविर्भाव भी नवीनता के आग्रह या रूपात्मक प्रयोग से नहीं होता, बल्कि नई जीवनदृष्टि और नए यथार्थबोध के कारण होता है"।[34]

"अद्वितीय विचारधारात्मक वस्तु के रूप में शब्द निरंतर विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया में होता है, शब्द में सभी सामाजिक परिवर्तनों और मोड़ों का संवेदनशील प्रतिबिंबन होता है। शब्दों के इतिहास में शब्दों का प्रयोग करने वालों का इतिहास व्यक्त होता है। शब्दों के इतिहास के माध्यम से विचारधारा और साहित्य के इतिहास लेखन का काम हो सकता है। भाषा का अध्ययन करते समय उसमें व्यक्त सामाजिक सत्य और कलात्मक सच्चाई की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। .....वालासिनोव ने लिखा है कि भाषिक सर्जना को उसमें व्यक्त होने वाले विचारधारात्मक अर्थों और मूल्यों से विच्छिन्न करके नहीं समझा सकता"।[35] इस सन्दर्भ में गोल्डमान ने "सामाजिक संरचनाओं, विश्वदृष्टि की संरचनाओं और रचना की संरचनाओं के संबंध की खोज की जो प्रणाली विकसित की है, उससे भी साहित्य इतिहास लेखन में मदद मिल सकती है। .....एक युग के साहित्य के शैली और भाषा का विश्लेषण करके उस युग के संपूर्ण विचारधारात्मक परिवर्तनों को पहचाना जा सकता है और इस पहचान के आधार पर साहित्य के इतिहास के परिवर्तनों की विशेषताओं का उदघाटन हो सकता है। इस प्रक्रिया को उल्टे तरीके से भी लागू किया जा सकता है"।[36] सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज, भाषा

और साहित्य के संबंध को पहचानने की जरूरत है। स्टेनले ई. फिश के अनुसार - "साहित्य और शैलीविज्ञान में एकता स्थापित करने के लिए यह पूर्वाग्रह छोड़ना जरूरी है कि भाषा एक चीज़ है और साहित्य दूसरी चीज़। वे कहते हैं कि सभी भाषिक संरचनाएं साहित्यिक संरचनाएं हैं। उन्होंने संपूर्ण संस्कृति को ही पाठ मान लिया है। यह पाठ पाठकों पर तरह तरह के प्रभाव डालता है और यह प्रभाव भाषिक संयोजन पर निर्भर है"।[37] हेडेन वाइट ने फिश के विचारों की आलोचना करते हुए लिखा है कि – "अगर फिश की विचार प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया जाए तो इतिहास के नाम पर पाठों का शब्दकोष तैयार होगा जिसमें ऐतिहासिक यथार्थ की समस्या का कोई समाधान नहीं होगा"।[38]

साहित्येतिहास लेखन के सिद्धांतों के निर्माण में मनोवैज्ञानिक आलोचना की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मनोवैज्ञानिक आलोचना के अनुसार साहित्य साहित्यकार के व्यक्तिव की अभिव्यक्ति है। इसी कारण आलोचना में रचनाकार के अभिव्यक्त अभिप्रायों की खोज हुई. सहित्यकार के अचेतन मानस के आद्यबिम्बों की स्थति और युग के सामूहिक उपचेतन की धारणा के कारण साहित्य को अबौधिक और साहित्य रचना को दिवास्वप्न माना जाने लगा। इससे साहित्य के सामाजिक, वैचारिक और साहित्य परंपरा की उपेक्षा हुई और साहित्य मिथकीय हो गया। मिथक संबंधी साहित्य चिंतन और उसकी इतिहासविरोधी प्रकृति का सर्वाधिक तर्कसंगत अभिव्यक्ति नाथ्रोर्प फ्राई के साहित्य चिंतन में हुई है। इन्होंने लिखा है कि हर तरह के साहित्यिक कृति के अर्थ की दिशा अभ्यांतारिक होती है। साहित्यिक संरचना के अंतरवर्ती अर्थ और स्वायत शब्दसंरचना की धारणा रूपवादी साहित्य सिद्धांत की ही उपज है। साहित्य के विकास में पुनरावर्ती तत्वों का अन्वेषण करते हुए फ्राई ने प्रतीक, मिथक और रचना विधाओं की शाश्वतता की स्थापना की है। फ्राई ने लिखा है कि "साहित्य की दुनिया की स्वायतता की धारणा के अनुसार साहित्य जीवन और यथार्थ का भाष्य नहीं है, लेकिन इसके भाषिक संबंधों की व्यवस्था के भीतर जीवन और यथार्थ का समावेश है"।[39] रेनेवेलक ने फ्राई के इस साहित्यचिंतन की आलोचना करते हुए लिखा है कि ऐसे साहित्य चिंतन से साहित्य परंपरा प्रतीकों और मिथकों की एक संवृत व्यवस्था बन जाती है, कालों और शैलियों का अंतर समाप्त हो जाता है और प्रतीक, मिथक और रूपक का आपसी अंतर भी मिट जाता है। साहित्य में कालों और शैलियों की समाप्ति से साहित्य के इतिहास की संभावना समाप्त हो जाती है।

"मनोवैज्ञानिक आलोचना में लेखक के व्यक्तित्व को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है, परंतु फ्राई की आलोचना में रचनाकार की चेतना और उसके अभिप्रायों की चर्चा के लिए भी कोई स्थान

नहीं है। यहाँ साहित्य इतना निर्वैक्तिक है कि अमानवीय हो जाता है। स्तारोविंसकी ने फ्राई की आलोचना करते हुए लिखा है : फ्राई की आलोचना पद्धति में कल्पना के प्रत्ययों को वस्तु की तरह मानकर उनका वर्गीकरण होता है। इस वर्गीकरण के अनुसार संपूर्ण साहित्य एक दूसरी सृष्टि की तरह है, जो कृतियों की एक विशाल व्यवस्था से निर्मित, अपने आतंरिक नियमों से शासित और विभिन्न कालों और विधाओं में विभाजित है। निष्कर्ष यह है कि फ्राई के अनुसार साहित्य का विकास नहीं होता बल्कि कुछ शाश्वत रूपों और संरचनाओं (प्रतीक, मिथक और आर्केटाइप) की पुनरावृति होती रहती है। इस तरह साहित्य की परंपरा शब्दों की व्यवस्था मात्र रह जाती है"। [40]

फिर भी इन सबका साहित्य के अध्ययन चिंतन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि मार्क्सवादी साहित्य चिंतन भी इससे अछूता नहीं रहा है। इसी कारण मार्क्सवादी जेरेमी हाथर्न ने रूपवादी और मार्क्सवादी आलोचना का समन्वय करने का प्रयत्न करते हुए रचना की निजता और समाज से उसके संबंध को 'अस्मिता और संबंधभावना' के रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। "कलाकृति की समाज सापेक्षता की व्याख्या का एक दूसरे प्रकार का प्रयत्न पोलैंड के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्री स्तेफान मोरावस्की के चिंतन में मिलता है। इन्होंने रचना की विभिन्न विशेषताओं को सांस्कृतिक संदर्भों की ऐतिहासिकता के अंतर्गत पहचानने पर बल दिया है और माना है कि कलामुल्यों का निर्धारण पाठक और कलाकृति के सबंधों द्वारा होता है। .....रूपवादी साहित्य चिंतन के फलस्वरूप साहित्यानुशीलन में इतिहास की सार्थकता संदिग्ध हो गई और आलोचकों को साहित्य के सामूहिक विकासशीलता की खोज के प्रयत्नों की विफलता का बोध होने लगा।.....इसी दौर में रूपवादी और मार्क्सवादी साहित्येतिहास की कमजोरियों से मुक्ति का दावा करते हुए हांस राबर्ट यौस जैसे विचारक रचना के ग्रहण और प्रभाव के सौंदर्यशास्त्र के सहारे नया साहित्येतिहास विकसित करने की कोशिश कर रहे हैं। रूपवादी साहित्य चिंतन के प्रभाव के बावजूद अब साहित्यानुशीलन में इतिहास की सार्थकता पर अब नए ढंग से विचार होने लगा है"।[41]

इसके अलावा साहित्य के इतिहास को अनावश्यक मानने वाले भी अनेक विचारक हैं। एफ.डब्लू. बेट्सन ने अपने एक लेख[42] में साहित्येतिहास को सुसंगत विचारणीय विषय मानने से ही इंकार किया है। इनका विचार है कि साहित्य मूलतः सर्जनात्मक होता है। वहां भेद से अधिक अभेद जरूरी होता है। बिंब घटनाओं में संयुक्त होते हैं। घटनाओं और चरित्रों में एकता स्थापित की जाती है। जबकि इतिहास में अंतरों और भेदों की खोज की जाती है। बेट्सन ने ई.

एम. फ़ॉस्टर के इस कथन का भी समर्थन किया है कि इतिहास विकसित होता है, कला स्थिर रहती है। साहित्य अन्तर्दर्शी होता है, जबकि इतिहास बहिरदर्शी। इतिहास का विषय वास्तविक जगत होता है, जिसके संबंध में इतिहासकार की सूचनाएँ न तो पूर्णतः प्रमाणिक होती हैं, और न ही विश्वसनीय। लेकिन साहित्यकार अपने रचनासंसार का सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है। परंतु यह लगभग सर्वमान्य है कि कला और साहित्य में बहुतेरे आन्दोलन, प्रयोग और परिवर्तन हुए हैं। समय के साथ रचना से पाठक के संबंध और रचनानुभूती भी बदलती रही है। फिर बाह्य यथार्थ के बदलते स्वरुप रचना के रूप और वस्तु दोनों को प्रभावित करते हैं। अतः बेट्सन का यह भी विचार कि कालक्रम के बोध और एक ही रचनाकार के अनेक रचनाओं के कालक्रम से रचना का सौंदर्य बोध प्रभावित नहीं होता, तर्कसम्मत नहीं है। इन्होंने यह भी कहा है कि रचना से संबंधित ऐतिहासिक संदर्भ की कल्पना हमेशा की जा सकती है, लेकिन भाषिक, ऐतिहासिक तथा संरचनात्मक तथ्य कलावस्तु के वास्तविक तथ्य को प्रभावित करते नहीं प्रतीत होते।

आधुनिकतावादी साहित्य चिंतन भी परंपरा विरोधी होने के नाम पर परंपरा के बोध और अस्तित्व को अस्वीकारता है। इसके पीछे यह धारणा है कि वर्तमान ही जब इतना अरक्षित और अनिश्चित है तो अतीत की चिंता कौन करे। ये लोग मानते हैं कि इतिहास के बिना जीने की आदत की कोशिश की जानी चाहिए। कोर्तियास के अनुसार – "इस युग के तेज़ी से बदलते सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक और धार्मिक विचारों तथा जीवन पर उनके प्रभावों के कारण, सिद्धांतों की निरर्थकता साबित होने तथा मानवजीवन के आदर्शों को जल्दी ही पुराने पड़ जाने के कारण, विचार और कर्म को बेचैन करने वाले वर्तमान वातावरण के कारण ही विचारशीलता का ह्रास हुआ है और भावावेश निर्णय और निश्चय का आधार हो गया है।" [43] अतीत का प्रति आस्था कम हुई है। "पश्चिम का आधुनिकतावादी चिंतन व्यक्तिकेंद्रित वर्तमान और वर्तमान केन्द्रित व्यक्ति के अस्तित्व की समस्यायों और संकटों से सम्बद्ध चिंतन बन गया है। ....साहित्य के क्षेत्र में ऐसे चिंतन के फलस्वरूप कला, कलाकार, आलोचक और पाठक इतिहास से बाहर होते हैं। यह विचारधारा और इतिहास दोनों से मुक्ति की विचारधारा है। इसके अंतर्गत मनुष्य के वैचारिक भावात्मक अंतर्जगत और उसके भौतिक सामाजिक बाह्य जगत, चेतना और परिवेश के संबंधों को अस्वीकार किया जाता है। वस्तुजगत अमूर्त हो जाते हैं, और संबंधों की खोज निरर्थक हो जाती है। ....आधुनिकतावादी विचारधारा बुजुर्वा विचारधारा का समर्थक और यथास्थितवाद का पोषक हो गई है। इस विचारधारा में या तो हर चीज़ को क्षणिक मान लिया गया है या शाश्वत। और क्षणवाद और शाश्वात्तावाद दोनों ही अनैतिहासिक होते हैं"।[44]

"परंतु यह विचारनीय है कि क्या हम इतिहास की चिंता से मुक्त हो सकते हैं। ज्यां ब्रान्त कोर्तियास ने कहा है कि इतिहास से मुक्त होने का अर्थ है मानवता से पलायन करना और चुकि हम मानवता से पलायन नहीं कर सकते इसलिए हम इतिहास से अलग नहीं हो सकते। इतिहास विरोधी चिंतन अंततः मानव विरोधी चिंतन हो जाता है"।[45]

जहाँ तक भारतीय परंपरा में साहित्येतिहास दर्शन और दृष्टि का प्रश्न है तो इस सन्दर्भ में जी.एन. दवे ने लिखा है कि *भारतीय उप-महाद्वीप में पश्चिमी संपर्क से पहले के साहित्येतिहास लेखन की परंपरा की जड़ें तलाशने कोशिश में मुझे बस एक के बाद दूसरे फिर तीसरे आदि क्रम में ऐतिहासिक कृतियों और उनके आपसी संबंधों की यादृच्छिक व्याख्या करके ही संतोष करना पड़ा।[46] लेकिन हाल के वर्षों में ज्ञान के विभिन्न विषयों और क्षेत्रों में पश्चिमी शिक्षण और दर्शन पद्धति में प्रशिक्षित विद्वानों द्वारा 'दिकोलोनैजेशन ऑफ़ ब्रेन' और उत्तर-उपनिवेशी चिंतन पद्धति (पोस्ट कोलोनियल थॉट प्रोसेस) द्वारा भारतीय दृष्टि से चिंतन की खूब जोर शोर से चर्चा हुई है, और अभी भी हो रही है। इस परंपरा में समाजशास्त्र में एम्.एन. श्रीनिवास, इतिहास में रोमिला थापर और रणजीत गुहा, राजनीती विज्ञान में अनिल सील और पार्था चटर्जी, मनोविज्ञान में सुधीर कक्कर, सांस्कृतिक इतिहास में आशीष नंदी आदि का योगदान महत्वपूर्ण है। भारतीय परिपेक्ष्य में साहित्य के इतिहास और आलोचना में उत्तर-उपनिवेशी चिंतन करने वाले प्रमुख विचारक हैं – मिनाक्षी मुखर्जी (Realism and Reality: The Novel and Society in India), राजेश्वरी सुंदर राजन (The Lie of the land: English literary studies in India), वसुधा डालमिया (Indias Literary History, Hindus Pasts, The Nationalization of Hindu Traditions), शेलदेन पोलक (The Language of the Gods in the World of Men, Literary Cultures in History: Reconstructions from South Asia), डेविड सल्मन (Textures of Time: Writing History in South India), फ्रांसेस्का ओरसीनी (Love in south asia : a culture history, Before the divide : Hindi and Urdu literary culture), सुदीप्त कविराज (The Unhappy Consciousness: Bankimchandra Chattopadhyay and the Formation of

* In 'Of many heroes', I was trying to trace the history of literary historiography in the subcontinent. However the material that I have examined did not allow one to construct any history in in the Hegelian sense, that is, not in the sense of cause and consequence series. I had to stay content with merely placing in an arbitrary manner interpretation of one historical text after another. And, I hade to introduce explanatory sentences such as, "This situation however changed".

Nationalist Discourse in India), हरीश त्रिवेदी (Colonial Transactions: English Literature and India) आदि।

परंतु इन सभी प्रयासों की अपनी सीमाएं हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी तरह से साहित्येतिहास लेखन की भारतीय परंपरा पर विचार करने और देखने-समझने से पहले हमें पश्चिमी दर्शन और विचार शैली से पिछले दो सौ वर्षों के दौरान परिचित और प्रभावित होने के परिणामस्वरुप हमारे मस्तिष्क और चिंतन पद्धति का जो उपनिवेशीकरण हो गया है, उससे मुक्त होना पड़ेगा, क्योंकि भारतीय जीवन, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि के भारतीय परंपरा का भारतीय परिपेक्ष्य और संदर्भ में तभी सम्यक रूप से अध्धयन किया जा सकता है, जब अध्ययन करने वाला मस्तिष्क भी विशुद्ध भारतीय हो और विशुद्ध भारतीय दर्शन और विश्लेषण-विवेचन पद्धति में उच्च स्तरीय शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त हो। परंतु, शुद्ध जल, शुद्ध हवा, शुद्ध घी, शुद्ध शहद आदि की भांति ही इस तरह के मस्तिष्क भी अब दुर्लभ हो गए हैं। अतः अब भारतीय परंपरा, जीवन, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि पर पश्चिमी दृष्टि से तो विचार हो सकता है, परंतु विशुद्ध भारतीय दृष्टि से नहीं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भविष्य में कभी विशुद्ध भारतीय दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकेगा। संभव है कि पचास-सौ वर्षों के बाद इस तरह के अध्ययन की अनुकूल परिस्तितियाँ बने।

1.3 हिंदी साहित्येतिहास : परंपरा और दृष्टियाँ

हिंदी साहित्य का इतिहास चाहे अत्यंत विस्तृत और सदियों पुराना हो या न हो परंतु इतना अवश्य है कि साहित्य सामग्री के संकलन से लेकर इसको शब्दबद्ध करने के प्रयास बहुत बाद में हुए। 'भक्तमाल' 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि में कवियों के जीवन वृत्त, रचनाएँ आदि तो थी परंतु धार्मिक दृष्टि से लिखे जाने के कारण ऐतिहासिक रूप से प्रमाणिक नहीं कही जा सकती हैं। इसके बाद कविमाला(1655), कालिदास हजारा(1719), अलंकर-रत्नाकर(1735), सारसंग्रह(1743), सटकविगिरा विलास(1746), रागकल्पद्रुम(1843), रस-चंद्रोदय(1863), दिग्विजय भूषण(1868), सुंदरी तिलक(1869), भाषा काव्य संग्रह(1873) आदि कवि वृत्त संग्रह समय समय पर लिखे जाते रहे। फिर 19वीं शताब्दी में ही भाषा और साहित्य के इतिहास पर छोटे-मोटे निबंध भी लिखे जाने आरंभ हो गए थे। परंतु इतिहास लेखन का पहला गंभीर प्रयास 'गार्सा-द-तासी' के

'ईस्तवार द ला लेतरात्यूर ऐन्दुई ऐं ऐंदुस्तानी (प्रथम भाग-1839, द्वितीय भाग-1847 और परिवर्धित संस्करण -1871)' में दिखता है। इसके बाद 'शिवसिंह सरोज(1878)' का प्रकाशन हुआ। ये दोनों मूलरूप से इतिहास ग्रन्थ नहीं माने जाते क्योंकि इनमें साहित्येतिहसिक पद्धतियों – यथा कालक्रम, कालविभाजन, प्रवृति निरूपण आदि – का ध्यान नहीं रखा गया है। यही कारण है कि ग्रियर्सन का 'द मॉडर्न वर्नाकुलर ऑफ़ हिन्दुस्तान(1888)' हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास माना जाता है। फिर मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद(1913)' नामक 5000 कवियों का विशाल वृत्तसंग्रह तैयार किया जिसमें कालविभाजन आदि होने के बावजूद मुख्य रूप से इसकी महत्ता बहुत अधिक सामग्री को एक जगह संकलित कर प्रस्तुत करने में है। इसके अलावा एडविन ग्रीव्ज का 'ए स्केच ऑफ़ हिंदी लिटरेचर(1918)' और ऍफ़ाई.के का 'ए हिस्ट्री ऑफ़ हिंदी लिटरेचर(1920)' प्रकाशित हुआ। यह दोनों ही ग्रंथ संक्षिप्त और परिचयात्मक हैं।

हिंदी साहित्येतिहास लेखन की प्रौढ़ परंपरा की शुरुआत आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास(1929)' से हुई. अपने प्रकाशन वर्ष से लेकर अबतक का यह सबसे महत्वपूर्ण और लोकप्रिय इतिहास है। इसमें उन्होंने हिंदी साहित्य के लिखे जाने के कारणों, प्रभावों और परिस्थितियों आदि पर पहली बार वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए साहित्येतिहास के 'क्या' पक्ष के साथ साथ 'क्यों' पक्ष पर भी बल दिया। 'हिंदी भाषा और साहित्य(डॉ. श्यामसुंदर दास, 1930)', हिंदी साहित्य का इतिहास (पं. रमाशंकर शुक्ल, 1931), हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास(सूर्यकांत शास्त्री, 1932), हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास(अयोध्यासिंह उपाध्याय, 1934), हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास(डॉ. रामकुमार वर्मा, 1938) आदि इतिहासग्रंथ भी थोड़े फेर बदल के साथ आचार्य शुक्ल की मान्यताओं के अनुरूप ही लिखे गए।

1940 तक हिंदी साहित्येतिहास लेखन परंपरा में आचार्य शुक्ल का स्थान अद्वितीय रहा। फिर इसी वर्ष डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक से साहित्येतिहास लेखन की एक नई पद्धति का सूत्रपात हुआ। हिंदी साहित्य को - संस्कृति और परंपराओं से जोड़ते हुए - युग-युगांतर से चली आती हुई अबाध विचार सरणि और भाव परंपरा के रूप में देखा गया। इस तरह यह इतिहास दृष्टि व्यापक, मानवतावादी, उदार और उद्दात हो गई. साहित्येतिहास को भारतीय संस्कृति के संदर्भ में व्याख्यित करके इन्होंने हिंदी साहित्येतिहास लेखन को एक नई दिशा दी। इसके बाद बहुतेरे छात्रोपयोगी और अन्य

तरह के इतिहास ग्रंथों की बाढ़ आ गई. इनमें हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (डॉ. गंपतिचंद्र गुप्त), हिंदी काव्य की सामाजिक भूमिका (डॉ. शंभुनाथ सिंह), हिंदी साहित्य का नया इतिहास(डॉ. रामखेलावन पांडे), हिंदी साहित्य(सं. धीरेन्द्र वर्मा), हिंदी काव्यधारा(राहुल सांकृत्यायन), हिंदी काव्य का इतिहास और हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास(रामस्वरूप चतुर्वेदी), आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास और हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास(बच्चन सिंह), हिंदी साहित्य का आधा इतिहास(सुमनराजे), हिंदी साहित्य का सरल इतिहास(विश्वनाथ त्रिपाठी) आदि दृष्टिकोण और कालविभाजन आदि की नवीनता के कारण उल्लेखनीय हैं।

हिंदी साहित्य के अन्य महत्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ हिंदी साहित्य का इतिहास(विजेंद्र स्नातक), हिंदी साहित्य : युग और प्रवृतियाँ(शिवकुमार शर्मा), हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी(नंददुलारे वाजपेयी), हिंदी साहित्य का इतिहास(हुकुमचंद्र राजपाल), हिंदी साहित्य का इतिहास(सुधीन्द्र कुमार), हिंदी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास(राजेंद्र प्रसाद सिंह), हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास(नीरजा माधव), हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास(नीलाभ) आदि हैं।

इसके अलावा सामूहिक प्रयत्न से लिखे गए इतिहासों में नागरी प्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास(16 भाग)' भारतीय हिंदी परिषद् द्वारा मुद्रित 'हिंदी साहित्य (3 भाग) और डॉ. नागेन्द्र और डॉ. हरदयाल द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उल्लेखनीय है। सामूहिक प्रयत्नों से लिखे इतिहासों में मौलिक इतिहास दृष्टि न होने के कारण अनेक संपादकीय दावों के बावजूद इतिहास लेखन अभी तक व्यवस्थित नहीं हो पाया है। फिर भी बहुत अधिक सामग्री को समेटने के कारण बाद के इतिहास लेखन में इससे मदद मिली है, और आगे के इतिहासकारों को भी मिलती रहेगी। लेकिन इससे इतिहास में अनेकमुखता, अनावश्यक सामग्री, अनावश्यक विस्तार, अनेकानेक इतिहासदृष्टि, सामंजस्य और संतुलन का आभाव, विवेचना की गहराई का अभाव, अनावश्यक अटकलबाजियां, अप्रासंगिक विवेचनाएँ आदि दोष आ गए हैं। परंतु इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि प्रत्येक विधा और युगों के विशेषज्ञों के सहयोग से इतिहास अधिक विस्तृत और प्रमाणिक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसलिए भविष्य में भी इस तरह के संपादकीय इतिहास लिखे जाते रहेंगे।

इसके अलावा सुबोध, तथ्यात्मक, वस्तुनिष्ट, काव्यात्मक, समीक्षात्मक, कुछ नोट्स आदि विशेषण से इतिहास लिखे जाने की एक समान्तर परंपरा चलती आई है। यथा – हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास(बाबू गुलाबराय), हिंदी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ट इतिहास(गोविन्द पाण्डेय/सरस्वती पाण्डेय), हिंदी साहित्य का तथ्यात्मक इतिहास(बालमुकुंद सुखवाल), हिंदी

साहित्य का काव्यात्मक इतिहास(रजनी सिंह), हिंदी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास(डॉ कृष्णलाल हंस), हिंदी साहित्य के इतिहास पर कुछ नोट्स(राजीव रंजन बंधु, रसाल सिंह) आदि। फिर कुछ शोध ग्रंथ भी इतिहास के नाम से प्रकाशित हुए हैं, यथा – हिंदी साहित्य का इतिहास : परंपरा और विकास (डॉ. कृष्णा धवन)। आधुनिक काल को लेकर लिखे गए कुछ महत्वपूर्ण इतिहास हैं – आधुनिक हिंदी साहित्य, 1850-1950 ई. (डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, 1900-25 ई. (डॉ. कृष्णलाल), स्वतान्त्रायोत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास और आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, 1857-1957 ई. (डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), हिंदी साहित्य, 1926-47 ई. (डॉ. भोलानाथ)।

इसके अलावा विभिन्न विधाओं के भी इतिहास लिखे गए हैं, यथा - हिंदी आलोचना : उद्भव और विकास(डॉ. भगवतस्वरुप मिश्र), हिंदी आलोचना का इतिहास(डॉ. रामदरश मिश्र), आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास(डॉ. वेंकट शर्मा), हिंदी नाटक : उद्भव और विकास (डॉ. दशरथ ओझा), हमारी नाट्य परंपरा (कृष्णदास), हिंदी एकांकी : उद्भव और विकास, हिंदी उपन्यास (शिवनारायण श्रीवास्तव), हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन (डॉ. गणेशन), हिंदी कहानी का इतिहास(गोपाल राय), हिंदी का गद्य साहित्य(रामचन्द्र तिवारी) आदि।

साहित्येतिहास संबंधी सैधांतिक पुस्तकों में साहित्य का इतिहास दर्शन(नलिन विलोचन शर्मा), साहित्येतिहास : संरचना और स्वरुप(डॉ. सुमनराजे), साहित्य और इतिहास दृष्टि (डॉ. मनैजर पाण्डेय), हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन (डॉ. शिवकुमार) आदि उल्लेखनीय है। इसके अलावा शिवदान सिंह चौहान, रामस्वरुप चतुर्वेदी, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, रामकृपाल पाण्डेय, नित्यानंद तिवारी, अजय तिवारी, गीता शर्मा, नंदकिशोर नवल, शंभुनाथ आदि के इस विषय पर लिखे लेखों द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण हुआ है। इस प्रकार से हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा में निरंतर निर्बाध रूप से नयी नयी पुस्तकों और लेखों के जुड़ने का क्रम चलता जा रहा है. परंतु एक बड़ा सवाल है कि – क्या इन सभी हिंदी साहित्येतिहास की पुस्तकों और लेखों में एक ही या फिर अलग-अलग तो किन इतिहास दृष्टियों का उपयोग किया गया है? इसी को ध्यान में रखते हुए, अब हम हिंदी साहित्येतिहास की परंपरा की पुस्तकों और लेखों की इतिहास दृष्टियों पर विचार करेंगे।

गार्सा-द-तासी ने अपने इतिहास ग्रंथ को ब्रिटेन की महारानी को समर्पित करते हुए भारतवर्ष में उनके शासन की प्रशंसा करते हुए अपने साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसके अलावा इन्होनें अपने धार्मिक और सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों के कारण हिंदी भाषा को सभी तरह से हिन्दुस्तानी(उर्दू) से कमतर सिद्ध करने की कोशिश की है, और हिंदी के कवियों (मात्र 250) की उपेक्षा कर उर्दू के कवियों (2550) को ही स्थान दिया है। इनकी धार्मिक दृष्टि के कारण भक्तिकाल और इसके कवियों के साथ भी अन्याय हुआ है। परंतु इनकी अनुसंधान परक दृष्टि अत्यंत विकसित है। इन्होंने रचनाओं के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानकारी देने की कोशिश की है। हिंदी, उर्दू और दक्खनी साहित्य का विस्तृत विकास क्रम दिखाया है। साहित्य को इन्होनें व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए ज्ञान के सभी शाखाओं के पुस्तकों को शामिल किया है। कवियों को अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया है क्योंकि इन्हें रचनाओं और कवियों के काल की प्रमाणिक जानकारी नहीं थी। इन्होनें हिंदी रचनाओं को - गोरेसिओ द्वारा संस्कृत साहित्य के वर्गीकरण के आधार पर - चार भागों में वर्गीकृत किया है; पहला, आख्यान, कहानी, किस्सा। दूसरा, आदिकाव्य अथवा प्राचीन काव्य। तीसरा, इतिहास, गाथा वर्णन। चौथा, किसी प्रकार का काव्यात्मक वर्णन।

इतिहास दृष्टि या दर्शन को लेकर शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' तासी के ग्रन्थ जितना भी प्रगतिशील नहीं है। यत्र-तत्र बहुताधिक और विभिन्न प्रकार की अशुद्धियाँ हैं। परंतु हिंदी जगत में तासी के इतिहास से इतर परंपरा की शुरुआत करते हुए इन्होंने सिर्फ हिंदी भाषा के कवियों को ही अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। इसके बाद ग्रियर्सन ने युग विभाजन, पृष्ठभूमि निर्देश, सामान्य प्रवृति निर्देश तथा तुलनात्मक आलोचना और मूल्यांकन आदि के आधार पर कालक्रमानुसार, युग और प्रवृति को ध्यान में रखते हुए साहित्येतिहास लेखन की 'आरंभिक' विधेयवादी पद्धति की शुरुआत की। परंतु तासी के तरह इनके भी इतिहास दृष्टि पर साम्राज्यवाद, धार्मिकता आदि का प्रभाव था। इन्होंने नैतिकतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भक्तिकाल के मुकाबले रीतिकाल को महत्व नहीं दिया है, और इसे पतनशील समाज की अभिव्यक्ति माना है। आधुनिककालीन हिंदी साहित्य का मूल्यांकन करते हुए इन्होंने साम्राज्यवादी दृष्टि का परिचय देते हुए अंग्रजों के संघर्ष के खिलाफ लिखे गए साहित्य को नज़रअंदाज़ कर दिया है। इनके इतिहास में प्रवृति के बजाय व्यक्ति को कालविभाजन का आधार बनाया गया है। इन्होंने लिखा है कि – "भारतीय लोग सूर को कीर्ति के सर्वोच्च गवाक्ष में स्थान देते हैं। पर यूरोपीय पाठक अंधे कवि की अत्यधिक माधुरी के अपेक्षा तुलसीदास के

उदार चरित्र को अधिक पसंद करेगा"।[47] इस तरह से कवियों के मूल्यांकन में उनकी नैतिकतावादी दृष्टि स्पष्ठ दिखती है। परंतु वे इससे अवगत थे कि सच्चे अर्थों में उनका ग्रंथ इतिहास नहीं है। इसलिए इसे उन्होंने सामग्री संग्रह का नाम दिया। फिर भी इन्होंने सरोज या तासी के ग्रन्थ से सामग्री लेते समय जागरूक इतिहासकार की तरह प्रमाणिकता का विशेष ध्यान रखा है। इतिहास को वैज्ञानिक बनाने के लिए भक्त कवियों से सम्बंधित अलौकिक घटनाओं को आलोचनात्मक टिपण्णी के साथ उद्धृत किया है। कुछ कालों की प्रवृति का संक्षिप्त निरूपण और प्रमुख कवियों का मूल्यांकन भी किया है। विवरण इतिवृतात्मक परंतु सुरुचिपूर्ण, कलात्मक और साहित्यिक शैली में है। इन्होंने पहली बार हिंदी साहित्येतिहास में स्थान-स्थान पर अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला साहित्य से तुलना द्वारा - तुलनात्मक आलोचना पद्धति का सूत्रपात किया।

मिश्रबंधु भी ग्रियर्सन की तरह तत्कालीन इतिहास दर्शन के प्रभाव में आकर 'मिश्रबन्धुविनोद' को इतिहास ग्रंथ नहीं मानते। परंतु साथ ही इतिहास संबंधी अपनी मान्यता भी व्यक्त करते हैं – "पहले हम इस ग्रंथ का नाम हिंदी साहित्य का इतिहास रखने वाले थे। .....फिर इतिहास ग्रंथ में सभी छोटे बड़े कवियों को स्थान नहीं मिल सकता। उसमें भाषा संबंधी गुणों और परिवर्तनों पर तो मुख्य रूप से ध्यान देना पड़ेगा, कवियों पर गौण रूप से। .....हमने इसमें साहित्य संबंधी सभी विषयों एवं गुणों को लाने का यथासाध्य पूर्ण प्रयत्न किया है, परंतु जिन बातों का इतिहास में होना आवश्यक है उसको नहीं हटाया। हमारे विचार में प्रायः सभी मुख्य एवं अमुख्य कवियों के नाम तथा उनके ग्रंथों के कथन से एक तो इतिहास में पूर्णता आती है। .....यदि उन्नत भाषाओं के साहित्य के इतिहास वाले ग्रंथ देखे जाएं तो प्रकट होगा कि उनके लेखक साधारण कवियों के विषय में भी दो चार विशेषण ऐसे चुस्त कर देते हैं, जो उन्हीं रचयिता के विषय में लिखे जा सकते हैं, औरों के लिए नहीं। हमारे यहाँ अभी कुछ दिन तक ऐसे उन्नत इतिहास ग्रंथों का बनना मुश्किल है।"[48] इसके अलावा मिश्रबंधू साहित्येतिहास लेखन के लिए आलोचना संबंधी प्रचुर सामग्री का होना आवश्यक मानते थे। इसके अभाव में उन्हें कवि कीर्तन करके ही संतुष्ट हो जाना पड़ा। इनका मत है कि मध्यकाल दो धर्मों का संघर्ष काल था। भाषा संबंधी दृष्टिकोण शुद्धतावादी न होकर प्रगतिशील है। किसी ग्रंथ की प्रमाणिकता के संदर्भ में नागरी प्रचारणी सभा के खोज रिपोर्ट को ही अंतिम माना है। कालविभाजन ग्रियर्सन से अधिक प्रगतिशील है। ग्रियर्सन की तरह जीवनकाल को आधार न बनाकर रचनाकाल को कालक्रम का आधार बनाया है। कवियों का श्रेणी विभाग कर मूल्यांकन किया है और इसका आधार कवियों की

काव्य प्रौढ़ता को बनाया है। किसी कवि के महाराज या महात्मा होने को महत्व नहीं दिया। अपने पूर्ववर्तियों की तरह इन्होंने भी विवरण की इतिवृतात्मक और आलोचनात्मक पद्धति अपनायी है। इनके ग्रंथ की सबसे बड़ी कमजोरी इसका सामाजिक ढ़ांचे से अलगाव है।

आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि को वैज्ञानिक, विकासवादी, भौतिकवादी, वस्तुवादी, लोकवादी, विधेयवादी आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि की मुख्य विशेषताएं हैं : लोकवादी, समाजोन्मुखी, सामंतविरोधी, काव्य में अस्वभाविकता और अतिशय कल्पनाशीलता का विरोध, प्रगतिशील और विकासवादी तत्वों का ग्रहण, लोकजीवन और साहित्य के संबंधों पर जोर, काव्य में अभिव्यंजनावाद का विरोध, परंपराओं के सामजस्य और संघर्ष पर जोर, वैज्ञानिक, वस्तुवादी और भौतिकवादी इतिहास दृष्टि, साहित्य के रसवादी परंपरा का समर्थन और अलंकारवादी रीतिवादी आदि साहित्य का विरोध आदि। आचार्य शुक्ल को लोकहित, लोकमंगल, लोकधर्म, लोकादर्श, लोकभावना, लोकनिष्ट, लोकरस, लोकप्रवृति, लोकवाद आदि शब्द इतने अधिक प्रिय थे कि जिन लेखकों और रचनाकारों के लिए वे इन शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते थे उन्हें उन्होंने इतिहास से गायब कर दिया और जिन्हें गायब नहीं कर सके उनकी भरसक कटु आलोचना कर पतित कर दिया। लोक से उनका आशय केवल शिक्षित जनता से था। अशिक्षित जनता और निर्गुण संतों के प्रति उनकी हेय दृष्टि इसका प्रमाण है। इस तरह वे लोक-लोक गाते-गाते स्वयं अलोकतांत्रिक हो गए। इसके अलावा अपने विकावादी और विधेयवादी मान्यताओं के कारण साहित्य और समाज के बीच कार्य-कारण संबंध की स्थापना से उनके इतिहास में बहुत सारी असंगतियाँ आयी हैं। इतिहास ग्रंथ की प्रस्तुति आलोचनात्मक, विवरणात्मक, इतिवृत्तात्मक परंतु कलात्मक शैली में है, परंतु वह एकसूत्रता नहीं है जैसा कि द्विवेदी जी के यहाँ अबाध परंपरा के निरूपण के रूप में मिलता है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास साहित्येतिहास के लिए जातिगत अथवा देशगत स्थायी प्रवृतियों और उनके प्रगतिशील रूप को आवश्यक समझने के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थतियों और आन्दोलनों के स्वरुप को समझने पर भी बल देते हैं। उनके अनुसार, साहित्य एक व्यक्तिक कला है। प्रत्येक साहित्यकार की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं होती हैं। प्रतिभाशाली और विलक्षण कवि अथवा लेखक कभी कभी स्वतंत्र रीती से वाणी के विलास में प्रवृत होते हैं, और समाज की साधारण परिस्थतियों का उनपर कुछ खास प्रभाव नहीं पड़ता है। इस तरह संभवतः श्यामसुन्दर दास हिंदी के पहले तथाकथित इतिहास विरोधी इतिहासकार माने जा सकते हैं।

इनके साहित्य दृष्टि पर जातीयता का रंग बहुत गहरा है। इन्होंने लिखा है कि हिंदी साहित्य का संपूर्ण युग अशांति, निराशा और पराधीनता का युग रहा है। हमारे संपूर्ण हिंदी साहित्य में करुणा की जो हल्की अंतर्धारा मिलती है वह इसी का परिणाम है। डॉ. रूपचंद पारीक ने इनकी इतिहासदृष्टि पर टिप्पणी करते हुए कहा कि उन्होंने प्रवृतियों को खंडित रूप में नहीं देखा जिससे विभिन्न काल के कवियों को एक साथ रख दिया और इससे इतिहास में कालदोष आ गया है। प्रो.नामवर सिंह कहते हैं कि इतिहास में - बाबू साहब वह गहराई और बारीकी नहीं निभा सके।

'रसाल' जी साहित्येतिहास लेखन की जीवशास्त्रीय पद्धति अपनाते हैं। इनका मत है कि साहित्य के इतिहास में साहित्य के भिन्न-भिन्न समय से संबंध रखने वाली दशाओं या अवस्थाओं का सुव्यवस्थित वर्णन होना चाहिए। इन्होनें राजाओं की तरह कवियों के कार्यों पर प्रकाश डालने की बात कही जो साहित्य के विकास का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' में सूर्यकांत शास्त्री हिंदी साहित्य में मुसलमानों के योगदान को हिन्दुओं से कमतर नहीं मानते हैं। इसके समर्थन में उन्होंने कुछ उदाहरण देते हुए विद्यापति बनाम खुसरो, तुलसी बनाम कबीर, सूर बनाम जायसी, मीरा बनाम ताज, बिहारी बनाम खानखाना आदि का तर्क दिया है। तुलनात्मक विवेचन पद्धति इनके इतिहास की शक्ति है तो वहीं अलंकारिक भाषा का प्रयोग दोष। हरिऔध जी के इतिहास ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' में हिन्दू राष्ट्रीयता की दृष्टि हावी है। इसके अलावा इन्होनें कवियों का बहुताधिक प्रशस्ति गान किया है।

रामकुमार वर्मा की साहित्येतिहास योजना बहुत विस्तृत थी। इन्होंने अपने ग्रंथ के रचनाकाल तक जितनी सामग्री शोध के द्वारा प्रकाश में आई थी, उस सबका ऊपयोग किया है। सामग्री संकलन इनके इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता है। परंतु यह जिस रूप में लिखा गया है, उस रूप में कभी पूरा नहीं हुआ। 21वीं सदी में इस अधूरे काम को नए परिपेक्ष्य में और नई शोध सामग्री की उपलब्धता को ध्यान में रखते हुए पूरा करना सकारात्मक कदम होगा। रामकुमार वर्मा की इतिहास दृष्टि की विशेषताएं यथा - विपुल सामग्री का संचयन और बेहतर संयोजन, आदि इस सदी में इतिहास लेखन के लिए बहुत ऊपयोगी होगा। । इन्होंने जैन साहित्य को बहुत उचित स्थान दिया है। प्रस्तुति बहुत ही सुलझी हुई है। लेकिन एक ही जगह पूरी सामग्री देने के प्रयास के कारण इनके इतिहास में कालदोष आ गया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते हुए साहित्य में युग-युगांतर से आती हुई

अबाध विचारसरणी और भावपरंपरा का दर्शन कराया। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी साहित्यातिहास लेखन में इनका सबसे बड़ा योगदान है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपने इतिहास ग्रन्थ 'हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास' की भूमिका में पूर्ववर्ती और समकालीन इतिहास परंपरा से इतर नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इतिहास लिखने की बात की है। "इसमें उन्होनें अनेक नए सिद्धांत जोड़े हैं, कई-कई गवेषणाओं का समावेश किया है, नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण और गहन भूमिका स्थापित की है"।[49] फिर इन्होनें ये भी कहा कि आचार्य शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इतिहास ग्रंथ नहीं है। वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा ही नहीं गया है। नई गवेषणाओं को शामिल करने के नाम पर इन्होंने बस लिपि, भाषा, व्याकरण, टंकण, द्रुतलिपि, उर्दू का कवि, आधुनिककालीन साहित्यकारों के चित्र, भाषा विवाद आदि तथ्य और जानकारियां जोड़ी हैं। नई स्थापना के रूप में पुस्तक के उपसंहार को प्रथम अध्याय कहा है कि - "यह एक गंभीर विचारणीय बात है कि इस ग्रन्थ का उपसंहार हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रथम अध्याय है। इसका यह अभिप्राय है कि सन 1945 तक हिंदी में जो रचनाएँ हुई उसका काल समाप्त हो चुका, और अब सन 1946 हिंदी साहित्य के 'प्रथम अध्याय' को प्रारंभ करने का चिरस्मरणीय काल है"।[50]

1954 ई. में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान की 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' इस शोध प्रबंध का मुख्य विषय है इसलिए इसपर विस्तार से अगले अध्यायों में विचार किया जायेगा। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'हिंदी साहित्य का अतीत' में आदिकाल से रीतिकाल तक विचार हुआ है। रीतिकाल पर विस्तार से लिखते हुए वे इसे जनसाहित्य की संज्ञा देते हैं – "सबसे पहले यही देखना चाहिए कि रीति युगीन साहित्य जन संपर्क का सहित्य है या नहीं। हिंदी में रीती युगीन साहित्य भक्तिसहित्य के समान्तर बनने लगा था। दिखाई यही पड़ता है कि भक्ति का साहित्य यदि जनसंपर्क का अभिलाषुक था तो रीती साहित्य उसी संसर्ग का इच्छुक"।[51]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के तरह ही डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त भी एक विस्तृत, ठोस और वैज्ञानिक साहित्येतिहास दर्शन लेकर 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' लेखन में प्रवृत हुए परंतु व्यव्हार में वह आदर्श निभा न सके। फिर ग्रंथ के प्राक्कथन में ही उनका आधुनिकता विरोधी स्वर मुखरित हो जाता है – "राष्ट्र का दुर्भाग्य है कि आज आधुनिकता, नवीनता और यथार्थवादिता के नाम पर कुत्सित, अश्श्लील, कुंठाग्रस्त, आत्मघाती, समाजविरोधी और आस्थाशुन्य साहित्य को प्रोत्साहन और प्रश्रय दिया जा रहा है"।[52] डॉ. रामखेलावन पाण्डेय 'हिंदी साहित्य का नया इतिहास' में इतिहास के युगानुरूप पुनर्लेखन को आवश्यक मानते हैं

क्योंकि 'इतिहास वही नहीं जो स्मृत और सुरक्षित रह जाता है, बल्कि वह है जिसके स्मरण करने की आवश्यकता का अनुभव हमें होता चलता है। और इसलिए प्रत्येक युग अपने लिए ऐतिहासिक तथ्यों और तत्वों का नवीन संगठन करता है और उसकी संरचनात्मक व्याख्या करता है। .....साहित्य की जीवंत और प्राणवंत चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में रूपायित करने का प्रयास आधुनिककाल के साहित्यकार को करना पड़ेगा'। उन्होंने यह भी कहा कि आचार्य शुक्ल ने इतिहास के स्थान पर व्याकरण लिखा, प्रत्येक नियम के अपवादों की तालिका तैयार की, द्विवेदी जी ने प्रत्येक नई उपलब्धी को पूर्व परंपरा से अभिनव मानकर विकासवाद का ही पोषण किया। फिर वे राजन्य वर्ग के रंजक साहित्य, उच्चवर्गीय समाज के आत्मसंरक्षणात्मक साहित्य तथा निम्नवर्गीय समाज के आत्मसंस्थापनात्मक साहित्य के मूल्यांकन के अलग अलग निकषों की मांग की। परंतु यदि निकष भिन्न होंगे तो मूल्य दृष्टियाँ भी भिन्न होंगी और इससे मूल्यांकन और मूल्यदृष्टि की एकता भंग होगी। डॉ. पाण्डेय के इतिहास द्वारा वर्तमान युग में आचार्य शुक्ल के लेखन पद्धति से मुक्ति की आकांक्षा अपने तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त हुई है।

सामूहिक इतिहास लेखन के प्रयत्नों ने यद्यपि इतिहास दृष्टि की दिशा में कोई नया मोड़ नहीं आया फिर भी तात्कालीन समझ से साहित्येतिहास लेखन की दिशा में कुछ दिशानिर्देश जरूर तय हो गए। ये सामान्य दिशा निर्देश इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं – 1. काल विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृतियों के आधार पर। 2. व्यापक सर्वांगीण दृष्टि। 3. साहित्य के उदय, विकास और अंत आदि सभी प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान रखते हुए सभी पक्षों के संतुलन और समन्वय पर विशेष जोड़ दिया जाए। 4. साहित्येतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय हो जिनमें इन साहित्य शास्त्रीय दृष्टियों की प्रमुखता होगी – शुद्ध साहित्यिक दृष्टि, यथा अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि; दार्शनिक, सांस्कृतिक, समाजशास्त्रीय और मानववादी आदि। 5. साहित्य में जीवन के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक। 6. प्रत्येक लेखक और कवि के संपूर्ण कृतियों का संकलन करके ही उसके साहित्य क्षेत्र का निर्वाचन, निर्धारण, विवेचन और निदर्शन होगा। 7. प्रत्येक तथ्य, सिद्धांत और निष्कर्ष के लिए प्रमाण और उद्धरण आवश्यक होंगे। लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग, यथा संकलन, वर्गीकरण, समीकरण, संतुलन आगमन आदि।

हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास (रामस्वरूप चतुर्वेदी, 1986) परंपरा से अलग हटकर लिखी गयी इतिहास पुस्तक है। या फिर यो कहें कि यह अपनी आकांक्षा के अनुरूप इतिहास

भी और साहित्य भी तो अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। यह अध्यायों के जगह १, २, ३, ४, ...२३, २४, २५ उपखंडों में सुनियोजित है जो इसे संरचनात्मक स्तर पर इतिहास से ज्यादा उपन्यास की शक्ल देता है। एक साहित्येतिहासकार के नाते शुक्ल जी की तरह ही इनका मानना है कि साहित्येतिहासकार का काम है - कवि के कामों को साहित्य के विकास प्रकिया में न्यायोचित ठहराना। परंतु शुक्ल की परंपरा से अलग होते हुए उन्होंने इस रचनाकार के बजाय रचना पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया है – "इतिहास में बल इतिवृत पर होता है, विकास में इतिवृत के उस अंश पर जहाँ दिखाया जाता है कि एक युग अपने पिछले युग से, और एक रचनाकार अपने कालक्रम में अपने पहले के रचनाकार से कहाँ और क्यों भिन्न और विशिष्ठ है। भाषा, साहित्य और संस्कृति के अंतर्संपर्क में हिंदी क्षेत्र और वहां के जनसमुदाय की संवेदना कैसे विकसित होती गई है, और साहित्य उसे किस रूप में प्रतिफलित करता है, यह इस समूचे अध्ययन का अंतर्वस्तु है"।[53] जहाँ तक काल विभाजन का प्रश्न है तो इन्होंने कोई स्पष्ठ विभाजन न करते हुए बस प्रवृति, रचना और रचनाकार – तीनों को आपस में इस तरह फेंटकर प्रमुखता दी है कि इतिहास और उसकी संवेदना में निरंतरता बनी रहे। इससे दो बातें जाहिर होती हैं – पहली, ये कि चतुर्वेदी जी कालविभाजन के आधार की खोज साहित्य और उसकी परंपरा के अन्दर ही करने का पक्ष में हैं, और दूसरी यह कि वे कालविभाजन के लिए प्रवृति, रचना और रचनाकार को सबसे महत्वपूर्ण आधार मानते थे।

हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास (बच्चन सिंह) के प्रकाशन वर्ष(1996) तक साहित्य से जुड़े लगभग सभी संदर्भ और परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं, समाज, जीवन और राजनीती में बहुत अधिक बदलाव हो चुके थे, इसके अलावा और भी ढेरों साहित्य, शोध ग्रन्थ और पांडुलिपियाँ मिलीं और प्रकाशित हो गयी थीं। परंतु इन सबसे बावजूद साहित्येतिहास लेखन की परंपरा पर बहुत अधिक फर्क नहीं पड़ने की बात स्वीकारते हुए इस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं – " न तो आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' को लेकर दूसरा नया इतिहास लिखा जा सकता है और न छोड़कर। ....नए इतिहास के लिए शुक्ल जी का इतिहास एक चुनौती है।" परंतु उनका मत है कि नए इतिहास लेखन के लिए शुक्ल जी के ऐतिहासिक पैटर्न को तोड़ना जरूरी है, और इसके लिए जरूरी खतरे उठाने की बात करते हैं। यही जरूरी खतरे उठाते हुए उन्होंने कहा है कि आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिकाल आदि कालविभाजन अब पुराना पड़ गया है। और अब यह न साहित्येतिहासकार को मान्य है न इतिहासकार को। अपभ्रंश और बहुतेरे देशी भाषाओं में एक साथ साहित्य लिखे जाने और इसी समय हिंदी जाति के

निर्माण होने की प्रक्रिया आरंभ होने आदि के कारण ये आदिकाल को भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए इसे अपभ्रंश काल की संज्ञा देते हैं और इस पूरे काल को रामविलास शर्मा के जातीयता के अवधारणा के संदर्भ में देखने की कोशिश करते हैं। फिर 'मध्यकाल' शब्द में 'जकरी हुई मनोवृति' का अर्थ होने और उसके भक्तिकाल की रामविलास शर्मा की प्रथम नवजागरण की अवधारणा से विरोध देखते हुए मानते हैं कि भक्तिकाल मध्यकाल नहीं है। फिर वे कहते हैं कि वस्तु, शैली, छंद, रूपविधान आदि में रीतिकाल भक्तिकाल से भिन्न भूमिका में है, तो उसे भक्तिकाल जैसा मानते हुए ही उत्तर मध्यकाल कैसे कहा जा सकता है। इसके अलावा इन्होंने शुक्ल जी के रीतिकाल के विभिन्न धाराओं के वर्गीकरण को त्रुटिपूर्ण बताते हुए रीतिकाल को चार धाराओं में वर्गीकृत किया है – पहला, बद्ध रीतिकाव्य : रीति-चेतस, काव्य-चेतस, अन्य-कवि; दूसरा, मुक्त रीतिकाव्य : अभिजात वर्ग, स्वच्छंद काव्य धारा; तीसरा, हिंदी की उर्दू शैली का काव्य, रीतितर काव्य : वीर काव्य, भक्ति काव्य, प्रेमाख्यान, नीति काव्य, अंतर्विरोध। परंतु आधुनिककाल को विभिन्न धाराओं में वर्गीकरण करते समय डॉ. बच्चन सिंह की इतिहास दृष्टि का अंतर्विरोध सामने आ जाता है। एक तरफ तो वे भक्तिकाल और रीतिकाल को एक ही युग 'मध्यकाल' में रखने का विरोध यह कहकर करते हैं कि इन दोनों आन्दोलनों की भूमिकाएं भिन्न हैं, फिर आधुनिक काल में गद्य और पद्य दोनों में हुए भिन्न-भिन्न साहित्यिक आन्दोलनों को जिनकी साहित्येतिहास में अलग अलग भूमिकाएँ हैं, एक साथ ही स्वच्छान्दतावाद-युग और उत्तर-स्वच्छन्दतावाद युग में समाहित कर देते हैं। जिस तर्क के आधार पर भक्तिकाल को पूर्व मध्यकाल और रीतिकाल को उत्तर-मध्यकाल नहीं कहा जा सकता, उसी तर्क पर आधुनिक काल की सभी साहित्यिक काव्यधाराओं को स्वच्छान्दतावाद-युग और उत्तर-स्वच्छन्दतावाद युग में समाहित किया जा सकता।

सुमन राजे के इतिहासग्रंथों में यद्यपि दृष्टि संबंधी निश्चितता नहीं है, फिर भी उन्होनें पहली बार भारतीय इतिहास में जागरण और अजागरण की जड़ता की लय देखी है। बौधयुग और भक्तिकाल दोनों को पुनर्जागरण काल के रूप में समझा है। मूल्यों के आधार पर साहित्येतिहासलेखन का सिलसिला बैठने की वकालत राजे में बहुत है। मानव दशा और मानव बोध के उन्नयन की कोशिशें धारा के रूप में जिस युग में होती है, उसे निश्चय ही जागरण युग कहा जा सकता है। राजे के इतिहास में अवधारणाओं और कोटियों का घपला है। कहीं मार्क्सवादी कोटियाँ अपनाती हैं तो कहीं मूल्यवादी। अवधारणाओं में चयन और समन्वय हो सकता है, पर यह बताना जरूरी है कि अमुक कोटि और धारणा कहाँ तक अपनायी जा रही है,

और कहाँ इस धारणा में दूसरे पक्ष की धारणाओं का मिश्रण है। परंतु सुमन राजे के इतिहास दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि – वे धर्म, संप्रदाय, प्रमाणिकता और कलात्मकता आदि साहित्येतिहास की कसौटियों की चोचलेबाजी में नहीं फंसती हैं। अगर इस सबका वे बहुत अधिक ख्याल रखतीं तो इतिहास लिख न पातीं। उन्होंने पुस्तक के भूमिका में स्पष्ट लिखा है – "सिद्धांत से इतिहास नहीं निकलता, इतिहास से सिद्धांत निकलते हैं"। सार रूप में कहा जाए तो समकालीन स्त्रीवादी विमर्शों के बीच यह इतिहास हिंदी साहित्येतिहास परंपरा में महत्वपूर्ण कड़ी है।

1.4 शिवदान सिंह चौहान : परिचय और साहित्य चिंतन

शिवदान सिंह चौहान का जन्म 15 मार्च सन 1918 ई. में आगरा, उत्तर प्रदेश के बामनी ग्राम में हुआ था। बी. ए. की पढाई इन्होंने इलाहाबाद विश्विद्यालय से की। इसी दौरान ये राजनितिक गतिविधियों में भी भाग लेने लगे। कुछ छात्रों के साथ मिलकर पत्रिका* भी निकाली। सन 1937 ई. में बी.ए. किया जरूर, परन्तु दीक्षांत समारोह के समय ही अपनी उपाधि पत्र फाड़ दी। फिर, इसी वर्ष 'प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' के नाम से इनके एक लेख का 'विशाल भारत' नामक पत्रिका में प्रकाशन के साथ इनके लेखकीय जीवन आरंभ हुआ। इसके उपरांत तो इनके अनेकों पुस्तकों का प्रकाशन हुआ, जिनमें आलोचना और इतिहास संबंधी इनकी महत्वपूर्ण निबंध और पुस्तकें हैं – प्रगतिवाद (1946), साहित्य की परख (1948), हिंदी गद्य साहित्य (1952), हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष (1953), साहित्यानुशीलन (1955), आलोचना के मान(1958)। साहित्य की समस्याएँ(1959), आलोचना के सिद्धांत(1960), परिपेक्ष्य को सही करते हुए(1999) और प्रगतिशील स्मृति प्रवाह(2002)।

इसके अलावा कुछ दिनों तक इन्होंने 'हंस'† और 'आलोचना'‡ पत्रिका का संपादन किया। बड़े संख्या में पुस्तकों का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद भी किया।

'आलोचना के मान' पुस्तक में शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिवादी संकीर्णता, एकाधिकारवादी मूल्य-दृष्टि, परंपरा का अतिवाद आदि से बचकर व्यवहारिक आलोचना दृष्टि से साहित्य को

---

* 1937-38 ई. में 'प्रभा, नामक हिंदी पत्रिका का संपादन

† सन 1940 से 1944 ई. तक बनारस में रहकर हंस का संपादन

‡ नवंबर 1951 ई. से जनवरी 1953 ई. तक और पुनः जुलाई 1963 ई. से दिसंबर 1966 ई. तक 'आलोचना' का संपादन

सामाजिक परिपेक्ष्य में रखकर मानवमूल्यों की स्थापना और वस्तुवादी चिंतन पर बल दिया है। मधुरेश ने 'मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान' पुस्तक में लिखा है कि – " 'आलोचना के मान' के निबंधों की मुख्य चिंताएँ लगभग वही हैं, जो नामवर सिंह की इसी दौर में लिखित 'इतिहास और आलोचना' के निबंधों की है।"[54] 'साहित्य की समस्याएँ' पुस्तक में मुख्य रूप से साहित्य के मूल्यों के प्रश्न, साहित्येतिहास और साहित्य के निर्माण की समस्या, आधुनिक कविता की समस्या, साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा, आलोचना का दायित्व, जनपदीय भाषाओँ का प्रश्न, राष्ट्रभाषा : विवाद और समाधान आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'साहित्य के सिद्धांत' में शिवदान सिंह चौहान ने आलोचना के सिद्धांत के तीन सोपान माना है – पहला, बुनियादी चिंतन का व्यापक आधार योजना; दूसरा, नयी आलोचना या रूपवादी आलोचना से लगातार मुठभेड़ करना; तीसरा, प्रगतिशील आलोचना का मान-मूल्य निर्धारित करना। सन 1999 ई. में प्रकाशित 'परिपेक्ष्य को सही करते हुए' में उनके संपूर्ण आलोचना कर्म का सिंहावलोकन है। डॉ. नामवर सिंह ने इसके बारे में लिखा है कि – "इतिहास की दृष्टि से 'परिपेक्ष्य को सही करते हुए' संकलन में दो निबंध(सिंहावलोकन तथा प्रगतिशील आंदोलन और मैं) महत्वपूर्ण हैं। अपरिहार्य पुनरावृतियों के बावजूद इन दोनों आलेखों से एक बात स्पष्ट है। शिवदान सिंह चौहान हिंदी में प्रगतिवादी-मार्क्सवादी आलोचना के प्रवर्तक भी हैं और प्रतिपक्ष भी।"[55]

'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' अपनी शैली का अकेला हिंदी साहित्य का इतिहास है। इसमें भारतेंदु के 1873 ई. में हिंदी नई चाल में चली कहने से लेकर इस पुस्तक के लिखे जाने तक (अर्थात 1953 ई.) के बीच के समय - अस्सी वर्ष - को हिंदी साहित्य का संपूर्ण काल माना गया है। उनका मानना है – " 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' शीर्षक से हम जो कुछ भी लिख रहे हैं, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास नहीं, समूचे हिंदी(खड़ी बोली) साहित्य का इतिहास है।"[56] शिवदान सिंह चौहान के हिंदी साहित्य के इतिहास को लेकर इस केंद्रीय मान्यता और साथ ही इससे हिंदी जगत में उपजे विवादों और सवालों पर अगले अध्यायों में विचार किया जायेगा।

सन्दर्भ सूची :-

[1] Eileen Ka – May Cheng, Historiography An Introductory Guide; Chapter No. 1 and 2
[2] Ed. Nancy Partner and Sarah Foot, The sage handbook of historical theory; Page no. 11
[3] Keith Jenkins, On 'What is History?' From Carr and Elton to Rorthy and White; Page no. 7
[4] डॉ. शिवकुमार, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; उधृत - पृष्ट 68
[5] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; उधृत - पृष्ट 5
[6] डॉ. शिवकुमार, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; उधृत - पृष्ट 69
[7] वही, उधृत - पृष्ट 70
[8] वही, उधृत - पृष्ट 71
[9] वही, उधृत - पृष्ट 73
[10] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; उधृत - पृष्ट 62
[11] डॉ. शिवकुमार, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; उधृत - पृष्ट 76
[12] वही, उधृत - पृष्ट 75
[13] वही, उधृत - पृष्ट 75
[14] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; उधृत - पृष्ट 07
[15] वही, उधृत - पृष्ट 10
[16] वही, उधृत - पृष्ट 14
[17] वही, उधृत - पृष्ट 19
[18] वही, उधृत - पृष्ट 20
[19] वही, उधृत - पृष्ट 40
[20] वही, उधृत - पृष्ट 41-42
[21] वही, उधृत - पृष्ट 51
[22] वही, उधृत - पृष्ट 51-52
[23] वही, उधृत - पृष्ट 46
[24] वही, उधृत - पृष्ट 62
[25] वही, उधृत - पृष्ट 63
[26] वही, उधृत - पृष्ट 65
[27] वही, उधृत - पृष्ट 65-66
[28] वही, उधृत - पृष्ट 13
[29] वही, उधृत - पृष्ट 14
[30] वही, उधृत - पृष्ट 52
[31] वही, उधृत - पृष्ट 54
[32] वही, उधृत - पृष्ट 63-64
[33] वही, उधृत - पृष्ट 66
[34] वही, उधृत - पृष्ट 66-67
[35] वही, उधृत - पृष्ट 69-70
[36] वही, उधृत - पृष्ट 70
[37] वही, उधृत - पृष्ट 64
[38] वही, उधृत - पृष्ट 65
[39] वही, उधृत - पृष्ट 30
[40] वही, उधृत - पृष्ट 31
[41] वही, उधृत - पृष्ट 73

[42] वही, उधृत - पृष्ट 32
[43] वही, उधृत - पृष्ट 36
[44] वही, उधृत - पृष्ट 36-37
[45] वही, उधृत - पृष्ट 38
[46] The GN Devy Reader; भूमिका, पृष्ट 09
[47] डॉ. शिवकुमार, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; उधृत - पृष्ट 165
[48] वही, उधृत - पृष्ट 171-72
[49] वही, उधृत - पृष्ट 230
[50] वही, उधृत - पृष्ट 230
[51] वही, उधृत - पृष्ट 234
[52] वही, उधृत - पृष्ट 236
[53] रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास; पृष्ट संख्या 09
[54] मधुरेश, मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान; पृष्ट 65
[55] नामवर सिंह, हिंदी का गद्य पर्व; पृष्ट संख्या 183
[56] शिवदान सिंह चौहान, हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; पृष्ट संख्या 29

अध्याय : दो

'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : स्वरुप और समस्याएँ

2.1 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : स्वरुप

2.2 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : समस्याएँ

2.1 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : स्वरुप

आचार्य शुक्ल के इतिहास के बाद अब तक हिंदी साहित्य के शताधिक इतिहास या इस कलेवर के ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, परन्तु फिर भी हिंदी जगत में लगभग सर्व-स्वीकार्य मान्यता यही है कि भले हीं यदा-कदा कुछ इतिहासकारों और विद्वानों ने हिंदी साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं की ओर ध्यान दिलाते हुए उसमें बदलाव और सुधार हेतु कुछ जरूरी और व्यवहारिक सुझाव दिए हों, परंतु आचार्य शुक्ल और आचर्य द्विवेदी - और एक हद तक शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा - के बाद इतिहासलेखन में किसी ने भी कोई नयी ज़मीन नहीं तोड़ी है। इस तरह के मान्यताओं का अपना महत्व है, परन्तु इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि लगभग सभी इतिहासों में - चाहे वह सामग्री के कांट-छांट और वर्णन-विश्लेषण के स्तर पर ही न क्यों - के तौर तरीके, लेखन शैली तथा व्यवस्था और स्वरुप आदि में कुछ-न-कुछ नयापन अवश्य है। अतः स्वाभाविक ही है कि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में भी इस तरह की स्वरूपगत अन्य विशेषताएं और भिन्नताएं होंगी। इसलिए यहां पर हम 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' पर इन दृष्टियों से विचार करेंगे। मुख्य रुप से 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के स्वरुप पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। पहला, 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के केंद्रीय स्थापनाओं को ध्यान में रखते हुए; और दूसरा, इसके पहले और बाद में लिखे गए विभिन्न साहित्येतिहासों के स्वरूपों के परिपेक्ष्य में।

'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2007' 180 पृष्ठों लगभग लम्बाई - नौ इंच और चौराई - छह इंच) में छपी अपने प्रथम प्रकाशन वर्ष सन 1954 ई. तक के संघ की राजभाषा खड़ीबोली(हिंदी) के संपूर्ण साहित्य के इतिहास की पुस्तक है। इस पुस्तक के अनुसार, हिंदी साहित्य के पारंपरिक इतिहास ग्रंथों में जिस साहित्य को आधुनिक काल के अंतर्गत रखा जाता है, वास्तव में केवल उतना ही खड़ीबोली(हिंदी) का साहित्य है। उससे पहले का सभी साहित्य खड़ीबोली(हिंदी) का नहीं बल्कि हिंदी भाषा समूह यथा – राजस्थानी, मैथिली, अवधी, ब्रज आदि का साहित्य है। पुस्तक की इस स्थापना की चाहे जितनी आलोचना हुई हो, चाहे इसको स्वीकार करने वाला हिंदी जगत में एक्का-दुक्का विद्वान् ही मिले, परन्तु फिर भी इससे यह तथ्य असत्य नहीं हो जाता है कि – तकनीकी और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से खड़ीबोली(हिंदी), ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि अलग-अलग भाषाएँ हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से अभी हाल ही में अनुमोदित शोध-पत्रिकाओं की जो सूची जारी की गयी है, उसमें हिंदी और मैथिली के साथ राजस्थानी को भी एक अलग

भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] अगर आज कोई इस बात पर मुकदमा लिखा दे तो बहुत संभव है कि देश का सर्वोच्च न्यायालय संघ की भाषा खड़ीबोली(हिंदी), मैथिली, अवधी, ब्रज आदि को स्वतंत्र भाषा मानने के पक्ष में फैसला दे। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है कि संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल कर लिए जाने के बाद मैथिली अब कानूनी रूप से अलग भाषा है, और जहाँ तक अवधी, ब्रज आदि का प्रश्न है तो कानूनी रूप से रामविलास शर्मा की 'जाति की अवधारणा' और दुसरे अन्य साहित्यिक-सामाजिक तर्कों के बजाय भाषावैज्ञानिक तर्क को ही अधिक वरीयता दी जाएगी। फिर लेकिन इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ऐसे फैसलों के विरूद्ध जनमत का कितना अधिक दवाब होगा, जिससे संभव है कि न्यायालय अंत में यह कहकर अपने को अलग कर ले कि ये साहित्य, संस्कृति और जन भावनाओं का मामला है, और इसका न्यायलय के बजाय आपस में बैठकर सहमति से निपटान हो – जैसा कि बाबरी मस्जिद वाले मामले में न्यायलय ने हाल ही में किया है। अतः मुकदमा लिखाने के बाद भी भाषा और साहित्य को लेकर यथास्थिति में निकट भविष्य में परिवर्तन की कोई संभावना नहीं दिखती है, और इसलिए 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की स्थापनाएँ पहले की तरह ही उपेक्षित रहने के लिए अहिल्या की तरह शापग्रस्त है, लेकिन फिर भी साथ ही निरंतर उपस्थिति बनाये रखते हुए यह उम्मीद लगाए है कि उसे भी अपना राम मिलेगा। खैर।

पुस्तक का आरंभ करते हुए शिवदान सिंह चौहान ने इसकी प्रस्तावना में मुख्य रूप से हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल में खड़ीबोली(हिंदी) से इतर के साहित्य को शामिल नहीं करने से उत्पन्न अंतर्विरोध, इतिहासकार की भूमिका और दायित्व*, किसी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति से जुडी भ्रांतियों, आधुनिक भारतीय भाषाओं के उदय की प्रक्रिया आदि पर विचार किया है। पहले अध्याय में पूर्व-पीठिका के रूप में हिंदी साहित्य के परंपरा विचार करते हुए यह स्थापना दी है कि खड़ीबोली(हिंदी) और उर्दू दो अलग-अलग भाषाएँ हैं; और 1873 ई. से पहले गद्य और पद्य की जो समृद्ध और प्रौढ़ परंपरा मिलती है, वह वस्तुतः कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी की नहीं वरन उर्दू की हैं। इसलिए खड़ीबोली(हिंदी) में गद्य का आरंभ भारतेंदु कृत 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873 ई.)' और पद्य का आरंभ श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी (1886 ई.)' से माना जाना चाहिए। 1873 ई. से पहले खड़ी बोली के

* वह इतिहासकार ही क्या जो प्रचलित धारणाओं और मतवादों के बीच बाह्य आवरण को चीरकर सत्य का उद्घाटन कर सके या स्वयं उन मतवादों का चश्मा अपनी आंखों पर चढ़ाकर इतिहास को झुठला दे, या केवल इतिवृत्त संग्रह करके छुट्टी पा ले। - शिवदान सिंह चौहान; हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ संख्या 21

विकास न होने और इसमें साहित्य न लिखे जाने के पीछे सामान्यतः साहित्येतिहासकारों ने जो कारण* दिया है, उनसे शिवदान सहमत नहीं थे। कारणों पर विचार करते हुए इन्होंने तर्क दिया है कि चुकि दिल्ली मुहम्मद गोरी (12वीं शती) के समय से मुग़ल साम्राज्य के पतन तक मुसलमानी शासन का केंद्र थी, इसलिए यहाँ फ़ारसी शासन, व्यापार, बाज़ार की भाषा बन गयी, जिससे खड़ी बोली का विकास न हो सका। इसी अध्याय में दूसरी स्थापना है कि –

"खड़ी बोली की दो साहित्यिक शैलियाँ इस प्रकार के धर्म भेद के कारण नहीं पैदा हुई, बल्कि ऐतिहासिक और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण पैदा हुई, जिससे उन्हें अनिवार्यतः फारसी या संस्कृत के प्रभाव में अपना-अपना भिन्न साहित्यिक संस्कार करना पर गया।"[2]

फिर खड़ी बोली आंदोलन, हिंदी-उर्दू विवाद और खड़ी बोली गद्य के विकास पर भी इस अध्याय में विचार हुआ है।

अध्याय तीन में छायावाद युग को केंद्र में रखकर कविता के विकास पर विचार हुआ है। इसमें मूल स्थापना यह है कि - छायावाद से पहले की हिंदी कविता वस्तुतः छायावाद के आगमन के लिए भूमिका तैयार करने के लिए थी, और छायावाद के बाद की कविता छायावादी ह्रासोन्मुख भावों-प्रवृतियों का ही अलग-अलग धाराओं में विस्तार है –

"इस काल विभाजन का छायावाद प्रमाण इसलिए भी है कि पूर्व और पश्चात की काव्यधाराएं और प्रवृतियाँ छायावाद के अंतरंग रूप से सम्बंधित है। श्रीधर पाठक से हिंदी कविता जो परंपरा चली वह छायावाद की ही पूर्वगामिनी थी। ..... इसी प्रकार उत्तर छायावाद युग की कविता भी छायावाद से ही निःसृत है।"[3]

दूसरी स्थापना है –

---

* इतिहासकारों ने इतिहास पर अपना सांप्रदायिक दृष्टिकोण प्रक्षेपित करके यह मत प्रतिपादित किया कि उस समय हिन्दू लोग खड़ी बोली को मुसलमानों की भाषा मानते थे, जिसके कारण उन्होंने अपने धार्मिक ग्रंथों के लिए ब्रज, अवधी आदि लोकभाषाओं को अपनाया। इस तर्क के पक्ष में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दिया जाता। वस्तुतः ऐतिहासिक प्रमाण इसके विपरीत हैं। उस समय कम-से-कम भाषा के संबंध में कोई ऐसी भावना नहीं थी, नहीं तो अमीर खुसरो, कबीर, यारी साहब, बुल्ला साहब, सदना, रज्जब, दरिया साहब जैसे मुसलमान निर्गुणपंथी संतों ने, जायसी, दाउद, कुतुबन, जमाल, अहमद, उस्मान, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मोहम्मद, आदिलशाह, आशी जैसे मुसलमान प्रेममार्गी कवियों ने रसखान। आलम। कारेखां फ़कीर, कादिर, जमाल, मुबारक, रसलीन, महबूब, अहमदुल्लाह, दीन दरवेश, नजीर, इफ्जुल्लाह खां हाफिज जैसे कृष्ण भक्ति परंपरा के मुसलमान कवियों ने और ताज, शेख़ जैसी कवियीत्रियों ने और अकबर, जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब, शाहजादा आजमशाह, शाहआलम बहादुर, जहांदारशाह, मोहम्मद शाह, अहमद शाह तथा बहादुर शाह जफर जैसे मुगल सम्राटों और शाहजादों ने और रहीम खानखाना और तानसेन जैसे मुसलमान अमीर और दरबारियों ने अवधी और ब्रज भाषा में काव्य की रचना न की होती। क्यों न वे मुसलमानों की भाषा खड़ी बोली में ही लिखते? क्यों यहां के काव्य की भक्ति परंपरा को अपनाते? ठीक इसी प्रकार 17वीं शताब्दी से लेकर रसनिधि, वृंदावन, नागरीदास, सीतल, महादजी यहां तक कि स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र ने खड़ी बोली उर्दू या रखता में कविताएं न रची होतीं। - शिवदान सिंह चौहान; हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ संख्या 37

"अतः यह कहना गलत होगा कि फ्रांसीसी धारा जर्मन धारा के अनुकरण पर चली या अंग्रेजी धारा फ्रांसीसी धारा की अनुवर्तिनी थी, उसी तरह यह भी कहना गलत होगा कि हिंदी की छायावादी कविता पाश्चात्य (भला किस देश की? पाश्चात्य में तो जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड आदि सभी हैं) धारा की नक़ल है।"[4]

तीसरी स्थापना है –

"भारतेंदु और उनके समकालीन लेखक हिंदी और हिंदी जाति के उद्धार के लिए आंदोलन करने वाले देशप्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, कवि और साहित्यकार कम।"[5]

अपने इस स्थापना के समर्थन में उन्होंने स्वयं भारतेंदुकालीन लेखक बालमुकुंद गुप्त को उद्धृत किया है – "फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या? इससे इसे तुकबंदी कहना ही ठीक है।"[6]

इसके अलावा भारतेंदु की इस सुप्रसिद्ध मान्यता - 'खड़ी बोली में कविता ठीक से नहीं बन पाती' – से भी इस स्थापना को बल मिलता है। इन मान्यताओं और स्थापनाओं के अलावा 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' का स्वरुप पारंपरिक साहित्येतिहासों जैसा ही है। इसलिए अब हम पहले और बाद के लिखे गए साहित्येतिहासों के परिपेक्ष्य में इसके स्वरुप पर विचार करेंगे ताकि इसके अन्य स्वरूपगत पक्षों को समझा जा सके।

'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के स्वरुप निर्धारण का सबसे महत्वपूर्ण आधार साहित्यिक विधा को मानते हुए शिवदान सिंह चौहान ने स्वयं लिखा है –

"हम शताब्दी को सीमाचिन्ह मानकर इस काल-अवधि को उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में नहीं बाटेंगे, न हर पीढ़ी के किसी एक महत्वपूर्ण और प्रतिभाशाली लेखक के नाम पर भारतेंदु युग, द्विवेदी यग, प्रसाद युग, प्रेमचंद युग में बाटेंगे और न यह जानकार कि चुकि हर विकास-धारा का आदि, मध्य, वर्तमान होता है, इसे आदि, मध्य और वर्तमान युग में ही बाटेंगे। दिनमान के आधार पर हिंदी साहित्य के 'स्वर्ण-विहान, मध्यान्ह तक तो कल्पना दौराई जा सकती है, लेकिन अवसान की कल्पना भयावह है और सत्य भी नहीं। इस तरह के काल-विभाजन साहित्य के विभिन्न रूपों (कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना) के माध्यम से विकासमान हिंदी साहित्य की परंपरा को, विशेषकर उसकी प्रवृतियों और गति दिशा को

समझने में सहायक नहीं होते। इसलिए इन साहित्य रूपों के अलग लग माध्यम से ही हम हिंदी साहित्य के इतिहास को समझने-समझाने की चेष्टा करेंगे।"[7]

परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी खास रचनाकार को आधार बनाकर काल विभाजन करना उपयुक्त नहीं है, तो किसी खास युग या वाद - इस पुस्तक में कविता का विकास का विवेचन छायावाद युग को केंद्र में रखकर किया गया है - को केंद्र में रखकर काल विभाजन करना कहाँ तक सम्यक है, जबकि किसी रचनाकार या किसी युग दोनों को काल विभाजन के केंद्र में रखने के मूल में उस रचनाकार या युग की प्रवृति ही होती है। फिर ऊपर शिवदान सिंह चौहान ही ने दिनमान के संदर्भ में कहा है कि अवसान की कल्पना करना भयावह है, और सत्य भी नहीं है। परंतु वे स्वयं प्रयोगवादी और नयी कविता को छायावाद के ह्रासोन्मुख (अवसान) प्रवृति का काव्य मानते हैं –

"हिंदी कविता के समग्र इतिहास को दृष्टि में रखकर हम अनिवार्यतः इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवादी कविता कोई नया उत्थान नहीं है; बल्कि छायावादी कविता के ह्रास का ही विकृत रूप है और हिंदी की विशाल काव्यधारा में प्रयोगवादी कवियों की दें अभी बूँद के समान ही है।"[8]

बाद के साहित्यिक आंदोलनों और वादों के प्रवृतियों को पिछले वाद के ह्रासोन्मुख प्रवृतियों का विकृत रूप की संज्ञा देना क्या कम भयावह है? हिंदी जगत के कुछ हिस्सों में इसी तरह की एक और जीर्ण मान्यता यह प्रचलित है कि रीतिकाल भक्तिकाल के ह्रासोन्मुख प्रवृतियों का काल है। साहित्येतिहास को सम्यक रूप से समझने और उसके स्वरुप निर्धारण में इस तरह के मूल्यांकन से बहुत दूर तक नहीं जाया जा सकता है।

परंतु विधा को साहित्य के वर्गीकरण और विभाजन का आधार बनाना इस पुस्तक की साहित्येतिहास के स्वरुप के स्तर पर एक महत्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। इससे पहले प्रकाशित हुए लगभग सभी हिंदी साहित्येतिहासों के काल विभाजन और वर्गीकरण का आधार प्रवृति - आचार्य शुक्ल द्वारा प्रणीत - को बनाया गया है। किसी खास काल या युग में किसी एक प्रवृति-संवेदना या प्रवृतियों-संवेदनाओं के एक समूह को आधार बनाकर उस काल की सभी विधाओं को उसी के दायरे और नज़रिए से समझने के प्रयास हुए हैं। उदाहरण के लिए – छायवाद मुख्य रूप से हिंदी साहित्य का काव्य आन्दोलन है, परन्तु इस काल के गद्य साहित्य

को भी हिंदी के ज्यादातर प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण इतिहासों ने छायावाद के अंतर्गत ही रखकर समझा है। इसमें भी कमोबेश उन्हीं प्रवृतियों की खोज की गयी है।

इस तरह से यह इतिहास पहली बार साहित्य के अन्य विधाओं को काव्य के प्रवृतियों-संवेदनाओं के दायरे से मुक्त करके उन्हें उनकी अपनी स्वतंत्र प्रवृतियाँ-संवेदनाएँ - सिद्धांत, जो उसके अपने विधा के रचना और परंपरा से निकले हों - के आधार पर मूल्यांकित होने का मार्ग प्रशस्त किया, भले ही ऐसा करने में कितनी सफलता मिल पायी है, इसपर अलग से विचार हो सकता है। परंतु बाद के किसी भी अन्य महत्वपूर्ण इतिहास में इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया। ऐसा सिर्फ इसलिए कि शायद सभी परवर्ती इतिहासकारों को यह लगा हो कि आचार्य शुक्ल जब प्रवृति को साहित्य के काल-विभाजन और वर्गीकरण का आधार बनाकर चले गए हैं तो क्यों न उन्हीं की परंपरा का अनुसरण किया जाए। परंतु आचार्य शुक्ल के 'हिंदी के इतिहास' के स्वरुप का अध्ययन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यदि आज वे हिंदी साहित्य का इतिहास लिख रहे होते तो जरूर वे भी साहित्य को पहले विधाओं में अलगाते फिर प्रवृतियों-संवेदनाओं के आधार पर हर विधा में काल-विभाजन, प्रवृति निरूपण करते। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आधुनिक काल का विवेचन करते समय गद्य और पद्य साहित्य को अलग-अलग खंडों, अध्यायों और ऊत्थानों में बांटकर विवेचित किया है। सन 1929 ई. तक गद्य की सभी विधाओं के प्रौढ़ परंपरा की बस शुरुआत भर हो रही थी, इसलिए उन्होंने संभवतः उस समय केवल गद्य और पद्य को अलगाना उचित समझा होगा। परंतु अब जिस तरह से गद्य की विभिन्न विधाओं की भी अपनी स्वतंत्र प्रौढ़ परंपरा स्थापित हो गयी है, ऐसे में अब पहले साहित्य को विभिन्न विधाओं और फिर अलग-अलग विधाओं की एक ही इतिहास में अपनी स्वतंत्र विवेचना करना - आचार्य शुक्ल के ही साहित्येतिहास के स्वरुप परक इतिहास दृष्टि का स्वाभाविक विस्तार होगा। इस संदर्भ में नीचे विवेचित आचार्य शुक्ल के इतिहास की कुछ अन्य स्वरुप परक विशेषताएँ भी ध्यान आकर्षित करती हैं, जो संभवतः वर्त्तमान सदी में हिंदी साहित्य के नए साहित्येतिहास लेखन में उपयोगी हों। लेकिन उससे पहले इस ओर ध्यान दिलाना समीचीन होगा कि अब साहित्य के अलग-अलग विधाओं के स्वतंत्र इतिहास लिखे जाने की जो परंपरा हिंदी साहित्य में चली है, उससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस संदर्भ में शिवदान सिंह चौहान की दृष्टि अधिक प्रगतिशील थी।

आचार्य शुक्ल के यहाँ उनके सामने के वर्तमान युग और उनसे पीछे छूट गए युगों के साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टि, शैली और भंगिमा में बहुत अंतर है। अतीत के साहित्य के विवरण और वर्णन में वे हर संभव कोशिश करते हैं कि वस्तुनिष्ठ, तटस्थ और निर्लिप्त भाव से अपनी बात कही जाय। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान - गद्य और पद्य दोनों में - तक कहीं भी इनका यह स्वर देखा जा सकता है। हालांकि इन सब पृष्ठों में भी आलोचना और इनकी अपनी सम्मतियां हैं, परन्तु एक तथ्य या व्याख्या के रूप में या दृष्टि के रूप में। परन्तु आधुनिक काल के तृतीय उत्थान - गद्य और पद्य दोनों में - तक आते-आते जब वे अपने समकालीन रचना और रचनाकारों पर विचार करने लगते हैं तो तत्कालीन रचना परिदृश्य पर डांट-डपट की मुद्रा में आ जाते हैं। यथा –

"सबसे पहले ध्यान लेखकों और ग्रंथकारों की दिन-दिन बढ़ती संख्या पर जाता है। इन इक्कीस वर्षों के बीच हिंदी साहित्य के मैदान काम करनेवालों से पूरा भर गया, जिससे उनके कई अंगों की बहुत अच्छी पूर्ती हुई, पर साथ में बहुत सी फालतू चीजें भी इधर उधर बिखरीं। जैसे भाषा का पूरा अभ्यास और उस पर अच्छा अधिकार रखने वाले। प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरुप को ठीक ठाक परखने वाले अनेक लेखकों द्वारा हमारा साहित्य पुष्ट और प्रौढ़ हो चला, वैसे ही पाश्चात्य साहित्य के किसी कोने से आँख खोलने वाले और यूरोप के हर एक नयी पुरानी बात को 'आधुनिकता' कहकर चिल्लाने वाले लोगों के द्वारा बहुत कुछ अनाधिकार चर्चा – बहुत सी अनाड़ीपन की बातें – भी फ़ैल चलीं। इस दूसरे साँचें के लोग यूरोप की सामाजिक-राजनितिक-सांस्कृतिक-साहित्यिक परिस्थतियों* के अनुसार समय समय पर उठे हुए नाना वादों और प्रवादों को लेकर और उनकी उक्तियों के टेढ़े मेढ़े अनुवाद को ऊद्धरनी करके ही अपने को हमारे वास्तविक साहित्यानिर्माताओं से दस हाथ आगे बता चले। इनके कारण हमारा सच्चा साहित्य रूका तो नहीं, पर व्यर्थ की भीड़भाड़ के बीच ओट में अवश्य पड़ता रहा। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या निबंध, क्या समालोचना, क्या कव्यस्वरूप मीमांसा, सबके क्षेत्रों के भीतर कुछ विलायती मन्त्रों का उच्चारण सुनाई पड़ता आ रहा है। इनमे से कुछ तो ऐसे हैं जो अपने जन्म स्थान में अब नहीं सुनाई पड़ते। हँसी तब आती है जब कुछ ऐसे व्यक्ति भी मध्ययुग की प्रवृति, क्लासिकल, रोमांटिक, इत्यादि शब्दों से विभूषित अपनी आलोचना द्वारा नयी युग की वाणी का संचार समझाने खड़े होते हैं, जो इन शब्दों का अर्थ जानना तो दूर रहा अंग्रेजी भी नहीं जानते हैं।"[9]

* शुक्ल जी जिस काल की चर्चा कर रहे हैं, हिंदी साहित्य में रामविलास शर्मा की 'हिंदी जाति की अवधारणा' भी उसी समय आयी। यह भी यूरोप से लगभग ज्यों-का-त्यों उठाकर हिंदी भाषा और साहित्य पर लागू दी गयी।

साथ में यह भी बताते चलते हैं कि उन्हें साहित्य में क्या लिखना चाहिए और क्या नहीं। एक उदाहरण –

"इस संबंध में हमारा कहना है कि हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनितिक दलों द्वारा प्रचारित बातों को लेकर नहीं चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। उन्हें यह देखना चाहिए कि अंग्रेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन निर्वाह करने वाले (किसानों और जमींदारों दोनों) की और नगर के रोजगारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थति हुई. उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राज कर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर चला करता है, व्यापारियों का वर्ग प्रायः उससे बचा रहता है।"[10]

इसी तरह के भविष्य में इतिहास लेखन संबंधी-दिशा निर्देश और सुझाव 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में भी दिए गए हैं, यथा –

"अपने जन्म काल में ही पत्रकारों और प्रचारकों के नेतृत्व के कारण हिंदी साहित्य को कितने गलत विचारों और संकीर्ण भावनाओं का भार वहन करना पड़ा है, यह स्वयं अपने आप में स्वतंत्र अध्ययन का विषय है।"[11]

फिर उन्होंने इस इतिहास के प्रस्तावना में भी बड़े विस्तार से मातृभाषाओं और बोलियों के साहित्य और इतिहास में अनुसंधान कार्य के लिए और उनके विकास की संभावना तलाश करने के लिए विश्वविद्यालयों में हिंदी विभाग के साथ-साथ अन्य भाषाओं या बोलियों जैसे – अवधी, ब्रज आधी भाषा विभाग खोलने कि सुझाव दिए हैं। फिर आगे संभावना व्यक्त करते लिखा गया है कि –

"इस व्यापक अनुसंधान-कार्य के बाद इन सब भाषा-साहित्यों के स्वतंत्र इतिहासों के आधार पर ही एक ऐसे वृहद इतिहास की कल्पना की जा सकती है जो खड़ी बोली के हिंदी-उर्दू दोनों साहित्यों के साथ-साथ उत्तर मध्य भारत की इन सब भाषाओं के साहित्य का सम्मिलित इतिहास हो, जिसमें हर भाषा के दिन को समान भाव से स्वीकार किया गया हो।"[12]

फिर तृतीय उत्थान में ही आचार्य शुक्ल ने यूरोपीय और हिंदी साहित्य के तुलनात्मक विवेचन पर भी काफी जोड़ दिया है -

"जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, छोटे कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ और भी विस्तृत और विषद रूप में हुआ और उसमें वर्तमान कवियों का पूरा योग रहा है। उनके इतने रूप रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब के सब अब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते। न तो इसमें विस्तार के नियम का पालन मिलेगा न चरित्र विकास का अवकाश। एक संवेदना या मनोविकास का सिद्धांत भी कहीं कहीं ठीक न घटेगा।"[13]

फिर पश्चिम की साहित्यिक परंपरा की कमियों के ओर इशारा करते हुए उसकी आलोचना भी करते हैं –

"जो बात हमारे यहाँ की रसव्यवस्था के भीतर स्वतः सिद्ध है वही यूरोप में इधर आकर एक आधुनिक सिद्धांत के रूप में यो कही गयी है कि 'उत्कृष्ट हास वही है जिसमें आलंबन के प्रति एक प्रकार का प्रेमभाव उत्पन्न हो अर्थात यह प्रिय लगे।' यहाँ तक तो बात बहुत ठीक रही। पर यूरोप में नूतन सिद्धांत प्रवर्तक बनने के लिए उत्सुक रहने वाले चुप कब रह सकते हैं। वे दो कदम आगे बढ़कर आधुनिक 'मनुष्यतावाद' या 'भूतदयावाद' का स्वर ऊँचा करते हुए बोले, 'उत्कृष्ट हास' वह है जिसमें आलंबन के प्रति दया या करुणा उत्पन्न हो।' कहने की आवश्यकता नहीं कि यह होली, मुहर्रम सर्वथा अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक और रस विरुद्ध है। दया और करुणा दुःखात्मक भाव है, हास आनंदात्मक।"[14]

कहीं इसी उत्साह में पश्चिम में हुए साहित्यिक परिवर्तन पर कह उठते हैं कि भारत में तो इसकी प्राचीन परंपरा रही है – "एक अंक वाले कई उपरूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गए हैं।"[15] उपन्यासों की तरह नाटक कैसे होने चाहिए इसके लिए भी इन्होंने मार्गदर्शन दिया है।

आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास के स्वरुप पर यहाँ पर इतना विस्तृत विवेचन का उद्देश्य यह दिखाना है कि किस तरह अपने वर्तमान काल के साहित्य के इतिहास का लेखन करते समय वे इतिहासकार की भूमिका के साथ-साथ साहित्यकारों के प्रशिक्षक, वर्तमान हिंदी और वैश्विक साहित्यिक परिदृश्य पर बेलाग टिपण्णी देने वाले ऊत्साही आलोचक की भूमिका में आ जाते हैं। हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष में भी शिवदान सिंह चौहान ने भाषा के प्रश्न और भारतेंदु युग के संदर्भ में ऐसी ही कुछ बेलाग टिप्पणियाँ दी हैं। अतः स्पष्ट है कि कथ्य में भिन्न होते हुए भी स्वरुप के स्तर पर आचार्य शुक्ल के इतिहास और 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में कुछ समानताएं भी हैं।

दोनों इतिहासों के स्वरूपगत विभिन्नताओं में सबसे पहले 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में विवेचन के लिए विधाओं के क्रम की ओर ध्यान जाता है। यद्यपि आचार्य शुक्ल और शिवदान सिंह चौहान दोनों खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य का आरंभ गद्य विधा (नाटक) से मानते हैं, फिर भी आधुनिक काल में विधाओं के विवेचन में दोनों इतिहासों में क्रम बदल जाता है। आचार्य शुक्ल आधुनिक काल के अंतर्गत जहाँ गद्य का पहले विवेचन करते हैं, वहीँ शिवदान आधुनिक काल को गद्य काल मानते हुए भी इतिहास में पहले कविता के विकास का विवेचन करते हैं। इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल की दृष्टि अधिक प्रगतीशील प्रतीत होती है।

आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के इतिहासों की भाषा सर्वत्र संस्कृत की परंपरा की शिष्ट, मर्यादित, विनम्र और गरिमापूर्ण है, जबकि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के भाषा में सीधापन और सपाट बयानी का खुरदुरापन है। एक उदाहरण देखिये –

"इस तथ्य को अपने संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि के कारण देखने-समझने में असमर्थ हमारे इतिहासकारों ने खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य का इतिहास लिखते समय उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए निरपवाद रूप से व्यर्थ ही हाथ पाँव मारे हैं। ..... यह तथ्य निर्विवाद है, जैसा कि हम उर्दू के प्रसंग में बता चुके हैं।"[16]

आचार्य शुक्ल के इतिहास के विपरीत 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में रचनाकारों के जीवन और व्यक्तित्व परिचय से बचा गया है, परन्तु रचनाओं की यथा संभव विस्तार से चर्चा की गयी है। 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में इसके अलावा अलग-अलग अध्यायों अलग-अलग विधाओं पर विचार करते समय अध्याय के आरंभ में उस विधा की उत्पत्ति और विकास का हरसंभव विस्तार से विवेचन और विश्लेषण किया गया है, और कोशिश यह है कि अन्य साहित्येतिहासों से अलग उस विधा की परंपरा की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या प्रस्तुत की जाए। कहीं-कहीं यह व्याख्या बहुत सटीक और तर्कसंगत बन पड़ी हैं, तो कहीं-कहीं इन व्याख्याओं से सहमत नहीं हुआ जा सकता। यह सिर्फ उस विधा के बारे में अन्य साहित्येतिहासों से अलग अपने विचार प्रस्तुत करने भर के लिए दी गई हैं। गद्य विधाओं के विवेचन वाले अध्यायों में दूसरे साहित्येतिहासों यथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य द्विवेदी आदि के इतिहासों के मुकाबले रचनाकार से अधिक उनकी रचनाओं के कथ्य, भाव-विचार आदि अन्य पक्षों का विस्तार से विश्लेषण और विवेचन हुआ है।

इसके अलावा इस पुस्तक के 'हिंदी कविता का विकास' प्रकरण में भारतेंदु काल से लेकर छायावाद युग तक उत्तरोत्तर कवियों के मूल्यांकन के प्रति प्रशंसा का भाव बढ़ता गया है, और उनकी आलोचना कम होती गई है। मैथिलीशरण गुप्त के बाद तो कवियों के प्रति इस पुस्तक का स्वर अत्यधिक सकारात्मक है। हालांकि मैथिलीशरण गुप्त की प्रशंसा और आलोचना दोनों लगभग बराबर मात्रा में की गई है। इस पुस्तक की इतिहास दृष्टि से चाहे सहमत हुआ जा सकता हो या ना हुआ जा सकता हो, परंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस पुस्तक में हर संभव यह कोशिश की है कि निष्पक्ष होकर जो कुछ भी इतिहासकार को जैसा लगा उसके बारे में वैसा लिखा जाए। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना की है परंतु कई स्थानों पर, यथा – 'हिंदी आलोचना का विकास' के प्रकरण में या फिर लोकसंग्रह कि उनकी भावना के प्रति अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध के मूल्यांकन के संदर्भ में जहां भी हो सकता था, आचार्य शुक्ल की प्रशंसा भी की है। ठीक यही बात भारतेंदु और अज्ञेय के संदर्भ में भी कही जा सकती है। 'हिंदी कविता का विकास' के प्रकरण में तो भारतेंदु और अज्ञेय की बहुत आलोचना की गई है, परंतु नाटक निबंध आदि के संदर्भ में उन्होंने भारतेंदु को युग प्रवर्तक माना है, तो वही उपन्यास-कहानी आदि पर चर्चा करते समय अज्ञेय की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इसके अलावा 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में कुछ अन्य स्वरूपगत विशेषताएं भी परिलक्षित होती हैं, यथा - जहां नरेंद्र शर्मा जैसे कवियों को दूसरे साहित्येतिहासों में बहुत कम स्थान मिला है, वहीं इस पुस्तक में उन पर विस्तार से विवेचन विश्लेषण हुआ है। इसके पीछे संभवतः शिवदान सिंह चौहान की अपनी निजी रुचि का भी योगदान हो सकता है, क्योंकि जिस तरह से शिवदान सिंह चौहान अत्यंत ही भावुक और कोमल हृदय वाले व्यक्ति थे, वैसे ही नरेंद्र शर्मा की रचनाएं भावुक और कल्पनाशील युवक की प्रेम रचनाएं हैं। उनकी भाषा में भी गहरे रुप से आसक्त भोक्ता का स्वर मिलता है, यथा – "सुमुखी तुमको भूल जाना है असंभव है असंभव!"[17] फिर जीवन के क्षणभंगुर चीजों के प्रति असीम आशक्ति की स्वीकारोक्ति भी संभवतः शिवदान सिंह चौहान को नरेंद्र शर्मा की ओर आकर्षित किया होगा। नरेन्द्र शर्मा ने अपनी कविता संग्रह 'मिट्टी और फूल' में स्वीकार किया था कि 'मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूँ', और चुकि हिंदी काव्य साहित्य के इतिहास में कवि द्वारा अपनी दुर्बलताओं की आत्मस्वीकृति, युगदृष्टा या स्रष्टारूप के गौरव की अस्वीकृति और यहां तक कि अपने व्यक्तित्व की भी अस्वीकृति एक नई चीज़ थी। संभवतः इसी कारण शिवदान सिंह चौहान - जिनमें नए अवधारणाओं, नए विचारों आदि के प्रति स्वभाविक सा उत्साह रहता है – को नरेंद्र शर्मा की

ओर खींच ले गया। इस विस्तृत विवेचन का उद्देश्य यहां इस बात की ओर इशारा करना था कि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में भी इतिहासकार अपनी निजी रुचियों से अपने इतिहास को प्रभावित होने से नहीं बचा सका है।

इसके अलावा 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के अन्य स्वरूपगत विशेषताओं के संदर्भ में कहा जा सकता है कि इसमें स्त्री रचनाकारों के प्रति प्रशंसा का स्वर अधिक मुखर है और संभवतः यह अपने प्रकाशन वर्ष के समय तक हिंदी साहित्य इतिहास का पहला ग्रंथ है, जिसमें ग़ालिब जैसे उर्दू के साहित्यकारों के शेर का उल्लेख मिलता है।

2.2 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : समस्याएँ

हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की समस्याओं को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। पहला, 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की वे सामान्य समस्याएँ जो कुछ दूसरे हिंदी साहित्येतिहास के पुस्तकों की भी समस्याएँ हैं; दूसरा, वे जो इस पुस्तक की अपनी समस्याएँ हैं, जो संभवतः लेखक की इतिहास दृष्टि या अन्य कारणों से इस पुस्तक में आ गयी हैं।

हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की सबसे बड़ी समस्या है – निश्चयवाद की अवधारणा पर आधारित अनिवार्यता का सिद्धांत। इसके तहत हिंदी भाषा और साहित्य के अंतर्गत हर तरह के परिवर्तन को 'ये तो होना ही था' की मान्यता के तहत व्याख्यायित किया गया है। उदाहरण के लिए –

"तत्कालीन परिस्थितियों में हिंदी-उर्दू के विवाद में चाहे जितनी अवांछनीय कटुता आई हो, दोनों के पक्षधरों ने एक दूसरे के विरुद्ध चाहे जो तर्क दिए हो और इतिहास के तथ्यों का अपने-अपने पक्ष में चाहे जिस तरह इस्तेमाल किया हो, यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे राष्ट्रीय इतिहास को जिन मार्गों से चलकर वर्तमान तक पहुंचना पड़ा है, उनमें यह अनिवार्य था कि खड़ी बोली पहले उर्दू की शक्ल में विकास करती और फिर उसकी दो धाराएं हो जाती - एक उर्दू तो दूसरी हिंदी की। यह धाराएं कभी आपस में मिल सकेंगी और खड़ी बोली हिंदी-उर्दू का कभी कोई समान रूप विकसित हो सकेगा या नहीं यह अनुमान की बात है, अतः इस स्थान पर उसका विचार करना असंगत है।" [18]

यहाँ द्रष्टव्य है कि इस इतिहास लेखन के काल तक हिंदी-उर्दू की अलग-अलग धारा हो गयी थी तो ऐसा होना अनिवार्य मान लिया गया है, परंतु अगले ही पंक्ति में हिंदी-उर्दू का भविष्य को अनिवार्यता नहीं बल्कि अनुमान के सिद्धांत पर छोड़ दिया गया है।

इसी तरह हिंदी गद्य के विकास पर विचार करते हुए फिर से अनिवार्यता का सिद्धांत लागू किया गया है –

"अंग्रेजी राज्य की स्थापना से पश्चिम की आधुनिक औद्योगिक संस्कृति के संपर्क में आने के कारण उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का सूत्रपात होना अनिवार्य हो गया था, जिसकी परिणति राष्ट्रीय जागरण और विभिन्न भाषाओं के आधुनिक गद्य-पद्य साहित्य के विकास में हुई। फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष डॉ. जॉन गिलक्राइस्ट की देखरेख में और उनके आदेश पर लल्लूलाल ने यदि भागवत की दशम स्कंध की कथा को लेकर ब्रजमिश्रित, कथावाचकों जैसी अनियंत्रित, अव्यवस्थित और उखड़ी-पुखड़ी भाषा में 'प्रेम सागर' की रचना न की होती या 'बेताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'शकुंतला नाटक' और 'मधोनल' आदि के सरल हिंदी अनुवाद न किए होते और पंडित सदल मिश्र ने 'अमरावती' और 'नासिकेतोपाख्यान' हिंदी में न लिखे होते, तो भी देश में ऐसी परिस्थितियों और शक्तियों का जन्म हो रहा था जो शिक्षित और प्रबुद्ध वर्ग के एक भाग को हिंदी की ओर अनिवार्यतः मोड़ती ही।"[19]

यहाँ पर अंग्रेजी राज की स्थापना को हिंदी गद्य-पद्य के विकास का मूल मानकर हिंदी गद्य के विकास में बाकि सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के योगदान को एक सिरे से खारिज़ कर दिया गया है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में गद्य-पद्य के विकास में अंग्रेजी राज्य की स्थापना इतना ही महत्वपूर्ण तत्त्व होता तो ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि सभी भाषाओं में भी खड़ीबोली(हिंदी) की तरह ही उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से ही गद्य-पद्य का विकास होने लगता। परंतु यह ऐतिहासिक सत्य है कि ऐसा नहीं हुआ। तथ्य तो यह है कि खड़ीबोली(हिंदी) के संस्कृतनिष्ठ गद्य-पद्य का विकास हिंदी आंदोलन और बहुतेरे अन्य संस्थाओं और व्यक्तियों के प्रयास से हुआ। नहीं तो अंग्रेजी राज्य की स्वाभाविक प्रवृति तो उर्दू में ही शासन चलाने की थी।

परंतु इसी पुस्तक में अन्यत्र महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के संदर्भ में एक टिप्पणी इस व्यक्ति के प्रयासों के बजाय सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थतियों को केंद्र में बनायी गयी अनिवार्यता का

सिद्धांत के विरोध में दिख ही जाती है, और व्यक्ति के निर्णय, पसंद-नापसंद आदि को साहित्य के दिशा निर्धारण में महत्व देती जान पड़ती है –

"श्रीधर पाठक ने इतिवृत्तात्मकता यथातथ्य वर्णनात्मक शैली के प्रयोग किया था यद्यपि उनकी भावना यह प्रवृत्ति कुछ कुछ स्वच्छंदतावादी थी द्विवेदी जी ने इस शैली को ही प्रोत्साहन दिया बांग्ला की कोमलकांत पदावली की अपेक्षा मराठी की इतिवृत्तात्मक शैली उनके मन के अधिक अनुकूल थी।"[20]

बांग्ला साहित्य में छायावादी प्रवृति की कोमल कान्त पदावली युक्त काव्य हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग के प्रादुर्भाव से पहले से ही लिखी जा रही थी। सन 1913 ई. में इस तरह की कविता के लिए रविन्द्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार भी मिल चुका था। फिर भी अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बांग्ला साहित्य की इस प्रवृति को हिंदी में अनुकरण का मार्ग कुछ समय के लिए अवरुद्ध कर दिया, जबकि इसी समय बांग्ला साहित्य का हिंदी साहित्य के अन्य विधाओं में धराधर अनुवाद और अनुकरण हो रहा था। 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की ही एक और उद्धरण देखिए, जिससे स्थति और भी स्पष्ट हो जाएगी –

"प्रारंभ में हिंदी के प्रमुख आलोचक छायावादी कविता के इस युगीन रूप को न पहचान सके, यद्यपि हिंदी पाठकों में ये कविताएँ लोकप्रिय होती जा रही थी। बाबू मैथिलीशरण गुप्त और श्रीधर पाठक, मुकुटधर पांडेय और बद्रीनाथ भट्ट ने छायावादी युग से पहले कुछ गीतात्मक रचनाएं की थी और उनमें कहीं-कहीं रहस्मय भावना का पुट भी दिया था। लेकिन इन रचनाओं के भाव संस्कार पुराने और धार्मिक ही थे। यहां तक तो उस युग के आलोचकों को सह्य था, लेकिन हिंदी काव्य-परंपरा-विहित मार्ग को छोड़कर नितांत नयी भाषा पद्धति और अर्थभूमि की सृष्टि करने लगे यह उनके शास्त्र-ज्ञान और पूर्वग्रहों को तीव्र चुनौती थी जिसके लिए वह तैयार नहीं थे। सन 1913 में रविंद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार हुआ था, तब से कम-से-कम उन पर सीधे आक्रमण करने का साहस आलोचकों को नहीं रहा था, यद्यपि वे उनकी कविता को किसी पूर्व-परिचित, शास्त्रोक्त परिपाटी के अंदर रखकर समझ सकने में असमर्थ थे। हिंदी आलोचकों ने इस कारण रविंदनाथ और उनकी कविता के प्रति एक आक्रोशपूर्ण उदासीनता का भाव अपना रखा था। वह नहीं चाहते थे कि बांग्ला काव्य को रवि बाबू जिन अनजाने पथों पर घसीटे ले जा रहे थे उन पर हिंदी के उदयीमान कवि भी भटक जाएं। इसलिए जब निराला और पंत की कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी तो हिंदी आलोचकों ने उनका जमकर

विरोध किया। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने इस विरोध की शुरूआत की और बाद में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी इस नई धारा के विरुद्ध पर्याप्त लिखा।"[21]

अतः स्पष्ट है कि अनिवार्यता का सिद्धांत साहित्य के विकास की सही व्याख्या नहीं कर सकता है।

हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की समस्या है कि उसमें किसी भी विधा के विकास का आरंभ उसकी अखंड और प्रौढ़ परंपरा की शुरुआत से माने जाने पर अत्यधिक जोर है -

"वस्तुतः हिंदी गद्य की अखंड परंपरा का 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से और गद्य साहित्य (नाटक, उपन्यास, कहानी आदि) का 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही सूत्रपात होता है।"[22]

परिणामतः 19वीं सदी से पहले की गद्य परंपरा और 19वीं सदी के उत्तरार्ध से पहले के गद्य साहित्य की चर्चा पूर्व-पीठिका के रूप में भी करना उचित नहीं समझते है। यही वजह है कि वे सैयद इंशा अल्ला खां को भी हिंदी गद्य के विकास परंपरा में सम्मलित करना उचित नहीं समझते –

"रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम के बाद 19वीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी गद्य के प्रारंभिक उन्नायकों में मथुरानाथ शुक्ल, सदासुखलाल, इंशा, लल्लूलाल, सदल मिश्र के नाम गिनाए जाते हैं। इनमें से सैयद इंशा अल्ला खां को हम हिंदी गद्य परंपरा के विकास में सम्मिलित करना उचित नहीं समझते। उर्दू गद्य के विकास परंपरा में ही वस्तुतः उनका स्थान है।"[23]

खड़ीबोली(हिंदी) के गद्य परंपरा के इतने आरंभिक - रानी केतकी की कहानी (रचनाकाल सन 1798-1803 ई. के बीच कभी - में जब गद्य का स्वरुप ठीक से निर्धारित भी नहीं हुआ था, इस प्रयास का अपना महत्व है। भले ही इसकी भाषा पर उर्दू वाक्य-विन्यास का काफी प्रभाव हो। और फिर इंशा खां ने घोषित रूप से इस कहानी को ठेठ खड़ी बोली में लिखने की बात कही थी। इसलिए इसे खड़ीबोली(हिंदी) गद्य परंपरा से हटाकर उर्दू की परंपरा में नहीं रखा जा सकता।

इसी तरह ये स्वीकार करने के बाद भी कि हिंदी में प्रेमचंद से पहले काफी उपन्यास लिखे गए, फिर भी उपन्यास का आरंभ प्रेमचंद से ही माना गया है –

"अतः प्रेमचंद ने ही सर्वप्रथम अपने श्रेष्ठ कृतियों से हिंदी उपन्यास को वह प्रौढ़ता, गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान की जो बंकिम, रविंद्र और शरद की कृतियों ने बांग्ला उपन्यासों को या महान पाश्चात्य लेखकों ने यूरोपीय उपन्यासों को प्रदान की थी। इसलिए प्रेमचंद से पूर्व के हिंदी

उपन्यासों का उल्लेख केवल इतिवृत्त की पूर्ति और परंपरा के विकास को जानने के लिए ही महत्वपूर्ण है, यद्यपि यद्यपि प्रेमचंद सोलह आने इस परंपरा से सम्बद्ध नहीं हैं। वस्तुतः आधुनिक हिंदी उपन्यास की परंपरा का सूत्रपात प्रेमचंद से ही होता है।"[24]

साहित्य के किसी भी परंपरा या विधा के प्रस्थान बिंदु के निर्धारण में 'अविच्छिन्नता के सिद्धांत' के महत्व को तो बहुत हद तक स्वीकार किया जा सकता है, परंतु 'प्रौढ़ परंपरा' पर बहुत अधिक जोड़ देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस तरह की मान्यता शाश्वत प्राकृतिक नियमों के विरोध में जाती प्रतीत होती है। कोई भी परंपरा या विधा अपने प्रस्थान बिंदु पर ही प्रौढ़ नहीं हो जाती। प्रौढ़ता और उत्कर्ष तक पहुँचने के पहले उस परंपरा या विधा में कुछ सामान्य रचनाओं और रचनाकारों की उपस्थिति जरूर होती है। साहित्येतिहास लेखन में इन सामान्य रचनाओं और रचनाकारों के महत्व को नजरंदाज नहीं किया जा सकता।

इसी प्रौढ़ता पर जोर देने के वजह से ही 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में भारतेंदु और उनके मंडल के कवियों को अत्यंत साधारण और प्रतिभाहीन कहा गया है –

"किंतु फिर भी इस बात को साहसपूर्वक कहने की जरूरत है कि इनमें से कोई भी असाधारण प्रतिभा का साहित्यकार नहीं था। सभी साधारण प्रतिभा के लोग थे, साहित्यकार से अधिक समाज सुधारक और हिंदी आंदोलनकारी थे। भारतेंदु में औरों के अपेक्षा संगठन करने की क्षमता अधिक थी, जिससे उनके समकालीन उन्हें अपना अग्रणीय और नेता मानते थे। इन प्रचारकों की दृष्टि सीमित थी और अनेक अंतर्विरोधों विरोधों से भरी हुई थी।"[25]

और यहाँ तक कि उन सबकी ब्रजभाषा में लिखी समसामयिक विषयों की पद्यात्मक रचनाओं को भी कविता नहीं माना गया है –

"ब्रजभाषा या खड़ी बोली में भारतेंदुकालीन लेखकों ने समसामयिक विषयों पर जो पद्यात्मक रचनाएँ कीं उन्हें कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनमें राजनीतिक सामाजिक विचारों को ज्यों-का-त्यों छंदबद्ध करने की प्रवृत्ति है, जीवन और जगत के अनुभव को मर्म-छवियों के माध्यम से मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति देकर नई अर्थसृष्टि करने का प्रयास कतई नहीं है। विचारों और वक्तव्यों को बिना अनुभूति के छंद बद्ध कर देने मात्र से कविता नहीं पैदा होती। ऐसी छंदोबद्ध तुकबंदियां आजकल भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं, नए से नए विषयों पर भी, लेकिन उन्हें कविता कहलाने का गौरव नहीं मिलता"[26]

यहाँ इस उद्धरण में कविता सम्बंधी जिस 'जीवन और जगत के अनुभव को मर्म-छवियों के माध्यम से मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति देकर नई अर्थसृष्टि करने' को कविता के मूल्यांकन का निकष माना गया है, और इस आधार पर भारतेंदु और उनके युग के कवियों के पद्यात्मक रचनाओं को कविता के क्षेत्र से बाहर कर दिया गया है, कविता के मूल्यांकन के लिए इसी निकष का हर जगह पालन नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए - इस तथ्य से असहमत नहीं हुआ जा सकता कि प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविताएँ 'जीवन और जगत के अनुभवों को मर्म-छवियों के माध्यम से मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति देकर नयी अर्थसृष्टि करने' की दृष्टि से श्रेष्ठ कविताएँ हैं। परंतु 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में प्रयोगवादी कविताओं की इसलिए आलोचना की गयी है कि उसमें स्थूल सामाजिक पक्ष का आभाव है -

"उत्तर छायावाद युग की दूसरी धारा हिंदी की वह कविता है, जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थप्रेरित, असमाजिक, असंतुलित मनोवृति के रूप में हुई है। इस कविता का शायद अभी तक अंतिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है, इसलिए प्रयोगवादी, प्रतीकवादी, प्रपद्यवादी या नई कविता - इन अनेक नामों से इसे पुकारा जाता है।"[27]

फिर अगले ही पृष्ठ पर लिखा हुआ है कि –

"हिंदी कविता के समग्र इतिहास को दृष्टि में रखकर हम अनिवार्यतः इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रयोगवादी कविता कोई नया उत्थान नहीं है, बल्कि छायावादी कविता का ही विकृत रूप है।"[28]

इस तरह हम देखते हैं कि भारतेंदुकालीन कविताएँ जो कि तत्कालीन सामजिक जीवन के विविध पक्षों यथा - हिंदू समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता, पुलिस और कर्मचारियों की लूट खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय-अनीति, अंग्रेजी शासन के आर्थिक शोषण आदि समसामयिक विषयों पर पर लिखी गयी हैं - को निर्जीव तुकबंदियां कही गई हैं और इसके लिए मर्म-छवियों, मूर्त कलात्मकता और नई अर्थ-सृष्टि करने की क्षमता को मूल्यांकन का आधार बनाया गया है। जबकि वहीं पर प्रयोगवादी कविताओं में ये सब गुण थे तो इसे श्रेष्ठ कहने के बजाय इसमें स्थूल सामाजिक और समसामयिक तत्वों को खोजने की कोशिश हुई है, जो कि भारतेंदु युगीन कविताओं में पर्याप्त मात्रा में थे। इस तरह से हम देखते हैं कि कविता के मूल्यांकन का परस्पर अंतर्विरोधी आधार अपनाया गया है। यह अंतर्विरोध भी 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की एक बड़ी समस्या है।

फिर प्रगतिवादी कविता के मूल्यांकन के संदर्भ में उपरोक्त दोनों आधारों को छोड़कर प्रगतिवादी कविता की इसलिए आलोचना की गयी है और उसे ह्रासोन्मुख माना गया है कि तथाकथित रूप से उसमें राजनीतिक दलबंदी और सांप्रदायिक संकीर्णता आ गयी थी -

"उस समय ऐसा लगता था कि इन महान सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा हिंदी काव्य में एक ऐसा युगांतर उपस्थित कर रही है जिसका पूर्ण उन्मेष छायावाद युग की तरह ही अनेक महान प्रतिभाओं के प्रस्फुटन से महिमाशाली बनेगा। लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतंत्र रुप से किसी नए काव्यादर्श का अभी सम्यक विकास न कर पाए थे कि उन्होंने राजनीतिक दलबंदी की मतवादी और संप्रदायिक संकीर्णताओं में पड़कर अपनी काव्य प्रतिभा का स्वयं ही हनन कर डाला।"[29]

इस तरह का मूल्यांकन इस इतिहास की इस समस्या की ओर ईशारा करता है कि अलग-अलग स्थानों पर मूल्यांकन की अलग-अलग पद्धति अपनायी गयी है, जो उचित नहीं जान पड़ती।

अब हम 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की उन समस्यायों पर विचार करेंगे जो दूसरे किसी न किसी हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथ की भी समस्याएँ हैं।

अन्य साहित्येतिहासों की तरह 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की सबसे पहली समस्या वह है, जो साहित्येतिहास के अनैतिहासिक चिंतन ने गिनायीं हैं। शैलीविज्ञानी, संरचनावादी, प्रभाववादी, मनोविज्ञानवादी, प्रतीकवादी, बिंबवादी आदि सामाजिक संवेदनशीलता और नैतिक मूल्यदृष्टि को साहित्य का अनिवार्य अंग नहीं मानते हैं। उनका मानना है कि साहित्यिक कृतियाँ सबसे पहले सौंदर्यबोधी वस्तु है, और साहित्य परंपरा ऐसी ही वस्तुओं का समुच्य। ऐसा मानने से साहित्येतिहास लेखन की जो पारंपरिक शैली है, उसमें साहित्येतिहास लेखन की संभावना समाप्त* हो जाती है, क्योंकि इसके अंतर्गत साहित्य को अनिवार्य रूप से सामाजिक संदर्भ में समझा जाता है, जिसकी प्रवृति गत्यात्मक है। परंतु सौंदर्यबोधीय दृष्टि तो साहित्य को सौंदर्यबोधी वस्तु मानकर इसे सर्वकालिक और बाह्य परिस्थतियों से स्वायत मानती है। डॉ. नामवर सिंह ने भी कहा है – "जब से शमशेर की कविता 'काल तुझसे होड़ है मेरी' पढ़ी है,

*साहित्य के इतिहास की साहित्यिकता पर विचार करने वाले कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है कि साहित्य जैसी कला का इतिहास लिखना असंभव है। इस असम्भावना के प्रायः तीन कारण माने जाते हैं। एक तो यह कि कलात्मक कृतियों का प्रारंभिक विवेचन क्रमिक तथा श्रृंखलाबद्ध तरीके से नहीं हुआ है। दूसरा कारण यह पूर्वाग्रह कि साहित्य का इतिहास लिखना संभव ही नहीं है जब तक किसी अवांतर मानवीय क्रिया के माध्यम से हेतु की व्याख्या न की जाए। तीसरी कथनी है - साहित्य कला के विकास के संपूर्ण अवधान को लेकर। - डॉ. शिवकुमार, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; पृष्ट संख्या 79

साहित्य के इतिहास में संदेह होने लगा है। संदेह साहित्यिक इतिहास की क्षमता में, संभावना में और सार्थकता में भी.....काल इतिहास है तो निश्चय ही इतिहास और साहित्य प्रतिस्पर्धी है या फिर परस्पर विरोधी। साहित्य की सार्थकता इस इतिहास के अतिक्रमण में है, किन्तु इतिहास की सार्थकता।"[30]

इस प्रसंग में साहित्य के इतिहास की संभावना में विश्वास नहीं करने वाले विचारकों और विद्वानों का मानना है कि साहित्य के इतिहास में रचनाओं के संदर्भ में जो ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किए जाते हैं वह वास्तव में साहित्य के इतिहासकारों की स्वनिर्मित और मनगढ़ंत कल्पना होती है, जिसकी तथ्यात्मकता और ऐतिहासिकता तो संदिग्ध है ही, उसकी उपयोगिता भी प्रश्नों के दायरे से बाहर नहीं है। ऐसी स्थिति के लिए डॉ. नामवर सिंह का सुझाव है कि – आर.जी. कॉलिंगवुड की 'प्रश्नोत्तर पद्धति' साहित्य के इतिहास के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। 'प्रश्नोत्तर पद्धति' के अंतर्गत मूल रूप से किसी साहित्यिक कृति में खोज की जाती है कि - साहित्यकार के अभिप्रेत अर्थ क्या थे? इसका अर्थ यह हुआ कि यदि साहित्य एक कल्पना प्रस्तुत रचना है, या फिर यदि साहित्य में जो कुछ भी अभिव्यक्त हुआ है, उसका यदि समाजिक जीवन से वैसा संबंध नहीं है, जैसा कि साहित्येतिहासकार को अपेक्षित है, तो इतिहासकार को उसकी तब भी समाजिक व्याख्या करने का सर्वोपरि विशेषाधिकार नहीं दिया जा सकता है। यही कारण है कि अगर किसी साहित्यिक कृति की सामाजिक परिपेक्ष में साहित्य के इतिहास में ऐतिहासिक व्याख्या भी होती है, तो भी वह उस साहित्यिक कृति की तरह ही उस काल का लिखा हुआ एक दूसरा टेक्स्ट या पाठ मात्र होगा। हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष के संदर्भ में भी यह सत्य है। चुकि इस पुस्तक में भी साहित्य को सामाजिक परिपेक्ष में उसकी ऐतिहासिक व्याख्या करने का प्रयास हुआ है, इसलिए इसमें भी रचना या रचनाकार के अभिप्रेत अर्थ के खोज के प्रयास नहीं के बराबर दिखते हैं। इस तरह से कहा जा सकता है कि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' भी हिंदी साहित्य के इतिहास की परंपराओं का सम्यक विवेचन करने वाली एकमात्र आधिकारिक पुस्तक न होकर हिंदी साहित्य के दूसरे इतिहास ग्रंथों की तरह यह भी एक टेक्स्ट या पाठ मात्र है, जो इतिहास की तथाकथित साहित्येतिहास विरोधी चिंतन की दृष्टि से इसकी सीमा भी है और समस्या भी।

अब हम 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के उन व्यवहारिक समस्याओं पर विचार करेंगे जो कमोबेश दूसरे हिंदी साहित्य के इतिहासों भी समस्या है। इस कड़ी में सबसे पहली समस्या यह

है कि - साहित्येतिहास साहित्यिक हो या ऐतिहासिक। नलिन विलोचन शर्मा ने सही लिखा है कि –

"साहित्य का इतिहास अधिक व्यंजक होगा यदि वह साहित्यिक भी हो और ऐतिहासिक भी। किन्तु क्या यह संभव है? क्या ऐसा होता है? .....होता तो यही है कि साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास अथवा साहित्य में व्यक्त तथा उद्धृत विचारों क इतिहास अथवा कालक्रम से उल्लखित विशिष्ट कृतियों के संबंध में भावनाओं तथा निर्णयों का इतिहास होता है। पश्चिम के उन्नीसवीं शताब्दी के और हिंदी के वर्तमान साहित्यिक इतिहास को एक सरसरी निगाह से देखने पर इसका पूर्ण समर्थन हो जाता है,"[31]

हलांकि यह सर्वमान्य तथ्य है कि साहित्येतिहास में साहित्य के संरचना शिल्प आदि की चर्चा, विवरण-विश्लेषण भर कर देने से कोई साहित्येतिहास साहित्यिक नहीं हो जाता है, परंतु इससे इतना तो पता लगता ही है कि इतिहासकार की मंशा इसे साहित्यिक बनाने की जरूर रही होगी। परंतु 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की समस्या है कि इसमें इसे साहित्यिक बनाने का यह आरंभिक प्रयास भी नहीं दिखता। जबकि इस इतिहास के संदर्भ में यह समस्या इसलिए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि यह हिंदी साहित्येतिहास को स्थापित परंपरा और लीक से हटकर देखने और हिंदी साहित्येतिहास लेखन के लिए नयी दृष्टि अपनाये जाने की वकालत करती है। यह इतिहास मूल रूप से तात्कालिक सामाजिक जीवन, परिस्थतियों और संदभों को साहित्य के कथ्यात्मक और उसकी वैचारिकी के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए प्रस्तुत की गयी है, जिससे 'ओलिवर एल्टन' की साहित्य के इतिहास के संदर्भ में यह धारणा चरितार्थ होती है कि – "यह वस्तुतः एक समीक्षा है, एक प्रत्यक्ष आलोचना, न कि एक इतिहास।"[32] यह इतिहास मूलतः रचनाओं के सामाजिक पक्ष का इतिहास है, भाषिक और कलापक्ष का नहीं। शब्दार्थ मीमांसा कहीं भी नहीं है।

साहित्येतिहास की समस्या है कि उसमें आलोचना और इतिहास का सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए। कितना हो। डॉ. मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि चुकि आलोचना आत्मपरक होती है और इतिहास वस्तुपरक होता है, इसलिए दोनों में अनिवार्यतः विरोध होता है। परंतु साथ ही में वह यह भी मानते हैं कि –

"साहित्यानुशीलन के सन्दर्भ में हम अगर तथ्य और सत्य के संबंध पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि साहित्य के इतिहास में तथ्य मूल्य निर्पेक्ष और इतिहासकार की निजी

संवेदनशीलता से कटा हुआ नहीं होता और न आलोचक का काव्य सत्य नितांत निजी होता है।"[33]

हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की समस्या है कि उसमें आलोचना और इतिहस का सम्यक समन्वय नहीं हो सका है। एक आध स्थानों को छोड़कर इस इतिहास में कहीं भी हिंदी साहित्य संबंधी नए तथ्यों के अन्वेषण के प्रयास नहीं मिलते। अन्य हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथों में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर ही उसकी नयी व्याख्या और आलोचना प्रस्तुत की गयी है। यहाँ कृति के अस्तित्व के बजाय कृति की अस्मिता की खोज पर अधिक बल है। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इसका यह लाभ हुआ है कि रचना के स्त्रोत और प्रकाशन वर्ष जैसे छोटी-छोटी सूचनाओं, रचनाकार के जीवन और व्यक्तित्व आदि के विवरण-विवेचन से साहित्येतिहास में जो अनावश्यक विस्तार आता है, उससे इस साहित्येतिहास में बचा जा सका है।

साहित्येतिहास की एक समस्या है कि उसमें आपस में असंबंधित रचनाओं को एक परंपरा, प्रवृति और प्रवाह की रचना मानकर एक साथ रखकर समझने का प्रयास रहता है। यह समस्या 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में भी खासकर छायावाद के संदर्भ में स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसमें छायावाद को अति व्यापक अर्थ में लेकर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी की रचनाओं के साथ अलग भावभूमि वाले बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा आदि की रचनाओं को एक ही छायावाद युग के अंतर्गत रखा गया है। ऐसा नहीं है कि इन कवियों की कृतियों में कोई समानता नहीं। अगर इसे एक ही युग में रखा गया है तो अवश्य ही कुछ सामान्य तत्त्व होंगे। परन्तु इन कृतियों में जो आपसी अंतर है, उसकी व्याख्या तो पूरे सिरे से 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' से गायब है।

हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की समस्या है कि यह साहित्यिक दृष्टि से श्रेष्ट और निकृष्ट रचनाकारों की व्याख्या नहीं करती है, और जहाँ भी थोड़ी कोशिश हुई है वहाँ यह अस्पष्ट या अंतर्विरोधी हो गया है। उदाहरण के लिए – "प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी ने व्यक्ति के सुख-दुःख, उल्लास-निराशा की अनुभूति-प्रवण और विषय प्रधान अभिव्यंजना करते हुए भी जिन नए मानवमूल्यों की सृष्टि की थी, कविता का जिन नयी अर्थ-भूमियों में प्रसार किया था और काव्य के अंतःस्वर में मानववादी उद्दातता की जो गरिमा भर दी थी, 'अंचल' तक आते-आते उन मानव-मूल्यों, अर्थ-भूमियों और अंतःस्वर की उद्दातता का संपूर्ण विघटन हो गया, और छायावादी कविता का दायरा संकीर्णतर होता गया।"[34] इस उद्धरण में प्रमुख छायावादी कवियों के मुकाबले उसी काल और युग के कवि – हरिवंश राय बच्चन, भगवती चरण वर्मा, नरेंद्र शर्मा

और रामेश्वर शुक्ल ‘अंचल’ - को निकृष्ट माना गया है। परंतु ध्यान देने योग्य है कि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी की भांति ही हरिवंश राय बच्चन, भगवती चरण वर्मा, नरेंद्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल ‘अंचल’ भी उस युग के दो अलग-अलग नए मूल्यों के प्रतिनिधि कवि हैं। इस तरह अलग –अलग मूल्यों के प्रतिनिधि कवियों में एक को श्रेष्ट और दूसरे को निकृष्ट बताना सम्यक ऐतिहासिक दृष्टि नहीं कही जा सकती। विद्यापति की पदावली और चंदवरदाई के पृथ्वीराजरासो के मूल्य और भावभूमि में दो ध्रुबों का अंतर है, तो क्या इसके आधार पर एक को श्रेष्ठ और दूसरे को निकृष्ट कहा जा सकता है।

फिर 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की समस्या है कि उसकी ऐतिहासिक-सामाजिक इतिहास दृष्टि एक ही युग की, एक ही कवि की, एक ही भावभूमि वाली दो कृतियों में किसी एक की दुसरे के मुकाबले श्रेष्टता और निकृष्टता की व्याख्या नहीं कर पाती। उदाहरण के लिए – एक ही तरह के कथा सूत्र वाले मैथिलीशरण गुप्त की दो रचनाओं – साकेत और यशोधरा – में साकेत को क्यों श्रेष्ट माना गया है, की व्याख्या यह पुस्तक नहीं करती जबकि दोनों रचनाओं का विस्तार से इस इतिहास में विवेचन हुआ है।

अन्य साहित्येतिहासों की तरह 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' भी काल विभाजन के स्तर पर सामान्यीकरण की समस्या का शिकार है। साहित्य का वास्तविक जगत में किसी भी नियम या विधि से आपेक्षित रूप से स्वायत होकर एक साथ ही एक ही समय में नानाविध दिशाओं में बहुत ही जटिल प्रक्रिया से विकास होता रहता है। परंतु साहित्येतिहास में उसे किसी विशेष नियम – यथा, क्रिया-प्रतिक्रिया, परंपरा और विद्रोह, पीढ़ियों का संघर्ष आदि – से समझने का प्रयास होता है, जिससे समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिए – 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में हिंदी कविता का विकास का सामान्यीकरण करते हुए, उसका विवेचन यह मानकर किया गया है कि छायावादी कविता ही कविता के विकास में शाश्वत आदर्श है, और छायावाद युग से पहले की कविता चुकि इस आदर्श की भूमिका तैयार करती है, इसलिए यह छायावाद की पूर्वागामिनी है, और बाद की कविता उस छायावादी आदर्श से पथभ्रष्ट होने की कविता है –

“श्रीधर पाठक से हिंदी कविता की जो परंपरा चली, वह छायावाद की ही पूर्व गामिनी थी। छायावाद के पूर्व-चिन्ह उसमें प्रकट थे और उसके बहिरंग को देखकर आलोचकों और इतिहासकारों ने अपने रजिस्टर में चाहे जितने खाने खोल दिए हों, उसका स्वाभाविक विकास छायावाद की ओर ही था, क्योंकि युग की प्रगतिशील चेतना और अनुभूति अज्ञात रूप से इस दिशा में विकास कर रही थी। इसी प्रकार उत्तर-छायावाद युग की कविता भी छायवाद से ही

निःसृत है। छायावादी काव्य के ह्रास-चिन्ह इसमें प्रगट हैं। छायावादी प्रवृति एक संश्लिष्ट प्रवृति थी, किंतु उत्तर-छायावाद युग में उसकी संश्लिष्ट भावना विश्रीन्खिलत हो गई; जिससे काव्यानुभूति के तार बिखर गए। छायावादी कविता का स्वर बिखर गया। कुछ कवियों ने छायावाद के समाजपरक तत्वों में नए विचार भरकर सच्ची अनुभूति के बिना ही प्रगतिशीलता का स्वर-संधान करना चाहा, तो कुछ ने उसके व्यक्तिपरक तत्वों की गठरी सहेजकर प्रयोगशीलता का बौद्धिक चमत्कार दिखाया। दोनों ओर खोखला आत्मप्रदर्शन ही अधिक रहा, जीवन के हर्ष विषाद और उसकी समस्याओं की मार्मिक अभिव्यक्ति विरल हो गई. इसलिए प्रारंभ की साधारण सरल इतिवृत्तात्मक किंतु विकासोन्मुखी हिंदी कविता दोनों महायुद्ध के बीच की अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुंची छायावादी कविता और उत्तर-छायावाद युग की पथभ्रष्ट और पथ-खोजी दुरूह अथवा गत्यात्मक कविता में एकसूत्रता है।"[35]

किसी भी काल या युग में न तो समाज और न ही साहित्य सिर्फ और सिर्फ एक मूल्य की ओर अग्रसर रहता है। इसलिए किसी एक धारा को केंद्र में रखकर किसी विधा के विकास का प्रयास सफल नहीं हो सकता। लेकिन इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि साहित्येतिहास में समस्या है कि वर्गीकरण और विभाजन का अबतक प्रस्तावित कोई भी आधार संपूर्ण साहित्य का सम्यक इतिहास प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सका है। काल के आधार पर विभाजन करने पर कवि के संपूर्ण रचनात्मक व्यक्तित्व और विभिन्न साहित्यिक विधाओं की आपेक्षित विशिष्टता का सम्यक विवेचन नहीं हो पाता। फिर विधा या रचनाकार को केंद्र में रखकर वर्गीकरण और विभाजन करने पर भी यही समस्या आती है। एक को आधार बनाने पर बाकि दो नहीं सधते। लेकिन फिर भी इन तमाम समस्याओं के बावजूद लगातार साहित्य को युगों, धाराओं, विधाओं में ही नहीं बल्कि सम्प्रदायों के आधार पर भी देखा, सोचा और लिखा जा रहा है। जिसके कारण बहुत सारे इतिहास ग्रन्थ तैयार हो गए हैं, जो इतिहास नहीं, बल्कि रचनाओं और प्रवृतियों के विवरण मात्र हैं।

हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की समस्या है कि उसमें महान कवियों और लेखकों की तो चर्चा है, लेकिन गौण लेखकों और कवियों की नहीं। उदाहरण के लिए – इस पुस्तक में भारतेंदु युग की चर्चा के क्रम में कवि के रूप में बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास आदि का केवल नामोल्लेख यह कहते हुए कर दिया गया है कि यह भारतेंदु के ही अनुगामी थे। हालाँकि इसी पुस्तक में दुसरे स्थान पर इन्हीं लेखकों को हिंदी में मौलिक नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि साहित्य के

विविध रूप विधानों का जन्म और प्रारंभिक विकास के संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय माना गया है।[36] संभवतः ऐसा इस इतिहास के संक्षिप्त स्वरुप के कारण हुआ होगा। परंतु इससे इतिहासकार की इस मान्यता का पता तो चलता ही है कि - गौण कवि-रचनाकार की चर्चा करने न करने से साहित्येतिहास के स्वरुप और ढांचें पर प्रभाव नहीं पड़ता है। लेकिन वास्तव में गौण कवि-रचनाकार वे होते हैं जिसकी चर्चा किए बिना किसी साहित्यिक परंपरा और प्रवृति आदि के जन्म, विकास, ह्रास, प्रौढ़ता, समृद्धता, विस्तार आदि को सम्यक रूप से नहीं समझा जा सकता। इस संदर्भ में महान कवियों और रचनाकारों से अधिक गौण कवियों-रचनाकारों का महत्व है। नलिन विलोचन शर्मा कहते हैं – "साहित्यिक इतिहास के विषय में यदि विस्तार है, तो महान लेखकों से अधिक महत्व गौण(minors) का है, जिनसे विस्तार निर्मित होता है।"[37]

साहित्येतिहास लेखन संबंधी सबसे जटिल समस्यायों में एक है कारणत्व की समस्या। साहित्य जैसा रचा गया, वैसा क्यों रचा गया। रचना के हज़ारों कारण हो सकते हैं। साहित्य में बहुतेरे अभिनव प्रयोग होते हैं, जिसकी कोई सम्यक सामाजिक और ऐतिहासिक कारण देकर व्याख्या नहीं की जा सकती है। परंतु साहित्येतिहासकार अपने दर्शन और दृष्टि के अनुसार इन सब चीजों के पीछे कारणों की अनिवार्य रूप से खोज करता है, जिससे समस्या उत्पन्न हो जाती है। 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में भी यह समस्या है, क्योंकि यहाँ मार्क्सवादी इतिहास दर्शन को आधार बनाते हुए साहित्य के सभी 'क्यों' का कारण तत्कालीन सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थतियों को मान लिया गया है।

इसके अलावा कुछ ऐसी समस्याएं हैं जो सीधे रुप से 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की समस्याएं तो नहीं कही जा सकती परंतु यहां उसकी चर्चा करना इसलिए प्रासंगिक हो जाता है - क्योंकि उसे सामान्यतः शिवदान सिंह चौहान के इतिहास दृष्टि की समस्या मानी जाती है।

ऐसी मान्यता है कि शिवदान सिंह चौहान की इतिहास दृष्टि का एक सैद्धांतिक पक्ष है और दूसरा व्यवहारिक पक्ष। जिस समय 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' का लेखन कार्य शिवदान सिंह चौहान कर रहे थे, लघभग उसी समय वे सन 1952 ई. में प्रकाशित 'साहित्य के इतिहास के लेखन की समस्या' लेख के माध्यम से साहित्य के इतिहास लेखन के सैधांतिक पक्षों पर भी विचार कर रहे थे। इसलिए इस लेख को 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के बरक्स रखकर कहा जाता है कि शिवराज सिंह चौहान के इतिहास दृष्टि के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष में अंतर्विरोध है। इसके लिए उदाहरण दिया जाता है कि - जहां शिवराज सिंह चौहान 'साहित्य के इतिहास लेखन की समस्या' लेख में 'अतीत से प्राप्त सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित' रखने

की बात करते हैं, वही 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में हिंदी साहित्य के इतिहास की परंपरा को केवल अस्सी वर्ष का ही मानते हैं।

परंतु गहराई से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शिवदान सिंह चौहान 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' में केवल खड़ी बोली हिंदी साहित्य के इतिहास को इसलिए शामिल करते हैं कि वह हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की उस अनैतिहासिक परंपरा के विरोध में थे, जो रीतिकाल तक तो हिंदी साहित्य को हिंदी की तमाम बोलियों और भाषाओं के समूह का साहित्य मानती है, और आधुनिक काल आने पर हिंदी साहित्य को केवल संघ की राजभाषा खड़ीबोली(हिंदी) का साहित्य मानती है। अगर इस दृष्टि को ध्यान में रखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उनके इतिहास दृष्टि के सैद्धांतिक और व्यवहारिक पक्ष में जो अंतर्विरोध दिख रहा है, वह वास्तव में सतही है। शिवदान सिंह चौहान की स्पष्ट मान्यता थी कि यदि हिंदी साहित्य के इतिहास के आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल में हिंदी भाषा- समूहों के साहित्य को शामिल किया जाता है तो आधुनिक काल में भी इन भाषा-समूहों के साहित्य को स्थान मिले नहीं तो केवल संघ की राजभाषा खड़ीबोली(हिंदी) का साहित्य ही हिंदी साहित्य के इतिहास में शामिल हो। शिवदान हमेशा से ही यह मानते आए हैं कि हिंदी भाषा-समूहों की सभी भाषाएं भाषा वैज्ञानिक और व्याकरणिक दृष्टि से स्वतंत्र भाषाएं हैं। अतः या तो हिंदी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत इन सभी स्वतंत्र भाषा-समूहों का इतिहास एक साथ लिखा जाए या फिर इसके अंतर्गत केवल खड़ी बोली हिंदी के साहित्य का इतिहास लिखा जाए, जिसका आरंभ उनके अनुसार सन 1873 ई. से भारतेंदु के मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से होता है।

इसी कारण यह इतिहास अपने भाषा संबंधी इसी दृष्टिकोण को लेकर हिंदी जगत में सर्वाधिक चर्चित हुई. ऐसी मान्यता है कि इस पुस्तक का भाषा-संबंधी दृष्टिकोण ही इसकी सबसे बड़ी समस्या है। परंतु मेरी मान्यता है कि भाषा-संबंधी दृष्टिकोण ही इस इतिहास का सबसे सबल पक्ष है, जो इसे हिंदी साहित्येतिहास लेखन के परंपरा में हमेशा ही प्रासंगिक बनाए रखेगा। इसलिए हम अब अगले अध्याय में 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के भाषा संबंधी दृष्टिकोण पर विस्तार से विचार करेंगे।

सन्दर्भ सूची :-

[1] http://wwwlugclaclin/journallist/; accessed on 21-June-2017
[2] शिवदान सिंह चौहान, हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; पृष्ठ संख्या 33
[3] वही, पृष्ठ संख्या 49
[4] वही, पृष्ठ संख्या 52
[5] वही, पृष्ठ संख्या 53
[6] वही, पृष्ठ संख्या 54
[7] वही, पृष्ठ संख्या 48
[8] वही, पृष्ठ संख्या 104
[9] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास; पृष्ठ संख्या 365
[10] वही, पृष्ठ संख्या 367
[11] शिवदान सिंह चौहान; हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ संख्या 55
[12] वही, पृष्ठ संख्या 28
[13] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास; पृष्ठ संख्या 371
[14] वही, पृष्ठ संख्या 375
[15] वही, पृष्ठ संख्या 375
[16] शिवदान सिंह चौहान, हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; पृष्ठ संख्या 34
[17] वही, पृष्ठ संख्या 95
[18] वही, पृष्ठ संख्या 33
[19] वही, पृष्ठ संख्या 42
[20] वही, पृष्ठ संख्या 59
[21] वही, पृष्ठ संख्या 71
[22] वही, पृष्ठ संख्या 40
[23] वही, पृष्ठ संख्या 40
[24] वही, पृष्ठ संख्या 128
[25] वही, पृष्ठ संख्या 46
[26] वही, पृष्ठ संख्या 53
[27] वही, पृष्ठ संख्या 102
[28] वही, पृष्ठ संख्या 104
[29] वही, पृष्ठ संख्या 102
[30] श्याम कश्यप, हिंदी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ; पृष्ठ संख्या 12
[31] डॉ. शिवकुमार, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; पृष्ट संख्या 79
[32] वही, पृष्ट संख्या 79
[33] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; पृष्ट संख्या 77
[34] शिवदान सिंह चौहान, हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; पृष्ठ संख्या 96
[35] वही, पृष्ठ संख्या 49
[36] वही, पृष्ठ संख्या 46
[37] डॉ. शिवकुमार, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; पृष्ट संख्या 88

अध्याय : तीन

साहित्य के इतिहास लेखन में भाषा का सवाल और हिंदी साहित्य

3.1 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और शिवदान सिंह चौहान
3.2 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और जातीयता की अवधारणा
3.3 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और अन्य दृष्टियाँ

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की अनेक समस्याओं में भाषा का सवाल एक बड़ी समस्या है। हिंदी भाषा और इसके परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य के उत्पत्ति काल को लेकर विभिन्न विद्वानों-आलोचकों की अलग-अलग मान्यताएँ हैं। जहाँ इन मान्यताओं के एक ध्रुव पर डॉ. रामविलास शर्मा हैं, जो हिंदी भाषा का वजूद आदिम साम्यवादी सभ्यता (अर्थात ऋग्वेद के रचनाकाल से भी पहले) मानते हैं। वहीं दुसरे ध्रुव पर शिवदान सिंह चौहान हैं, जो खड़ी बोली और इसके साहित्य (अर्थात सन 1873 ई.) से ही हिंदी साहित्य के इतिहास का आरंभ मानने पर जोर देते हैं। इसके बीच और भी अनेकों इतिहासकार, विचारक आदि हैं, जो हिंदी साहित्य का प्रस्थान बिंदु अलग-अलग काल को मानते हैं। इसलिए हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में भाषा के सवाल को समझने के लिए यहाँ पर शिवदान सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा आदि के हिंदी भाषा और साहित्य के उत्पत्ति संबंधी सिद्धांतों पर विचार किया जाएगा।

3.1 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और शिवदान सिंह चौहान

शिवदान सिंह चौहान की भाषा संबंधी मान्यताओं को अध्ययन की सुविधा के लिए दो हिस्सों में वर्गीकृत करके देखा जा सकता है। पहला, हिंदी प्रदेश की भाषा समस्या का स्वरुप, हिंदी-उर्दू विवाद, जनपदीय भाषाओं के अस्तित्व की चिंता और भारतीय भाषाओं के सह-अस्तित्व का प्रश्न आदि को ध्यान में रखते हुए बनी उनकी भाषा संबंधी मान्यता। दूसरा, हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास लेखन के संदर्भ में उनकी भाषा-संबंधी मान्यता। हालांकि यहाँ अध्ययन का मुख्य विषय शिवदान सिंह चौहान की हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास के संदर्भ में भाषा संबंधी मान्यता है, परंतु उनकी भाषा-संबंधी विचारों को तारतम्यता में समझने के लिए हम उनके भाषा संबंधी पहली मान्यता पर भी विचार करेंगे।

शिवदान सिंह चौहान ने सन 1944 ईस्वी में जनपदीय भाषाओं के स्वतंत्र विकास से संबंधित एक रिपोर्ट तैयार की थी। इस लेख में उन्होंने हिंदी से इतर हिंदी प्रदेश की जनपदीय भाषाओं के विकास पर जोर दिया था। जनपदीय आंदोलन को राष्ट्रीय चेतना और जनतांत्रिक भावना से जोड़कर देखते हुए, जनपदीय भाषाओं की कीमत पर हिंदी के हो रहे विकास को साम्राज्यवादी भावना के विस्तार के रूप में देखा था। इनका मानना था कि भारतीय जनता का स्वतंत्र और स्वभाविक विकास जन-भाषाओं के बगैर संभव नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने अवधी, ब्रज भाषा आदि को बोली कहने वाले हिंदी वादियों का जबरदस्त विरोध किया और उन्हें हिंदी से

स्वतंत्र और समृद्ध भाषा मानने का आग्रह किया। इस तरह से हम देखते हैं कि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के लेखन से बहुत पहले से ही वे ब्रज, अवधी आदि जनपदीय भाषाओँ को खड़ीबोली(हिंदी) से अलग मानते थे।

डॉ. अमरेंद्र त्रिपाठी ने अपने शोध-प्रबंध में लिखा है - "नवंबर 1944 में प्रगतिशील लेखक संघ की एक मीटिंग में शिवदान सिंह चौहान ने राहुल जी के विचारों के समर्थन में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसका समर्थन तब रामविलास जी ने किया था। इसके बाद संघ के लगभग प्रत्येक बैठक में जनपदीय के भाषाओं के विकास से संबंधित एक प्रस्ताव पारित होता रहा। आगे चलकर जब रामविलास जी का चिंतन 'हिंदी जाति' की ओर उन्मुख हुआ तो उन्होंने जनपदीय भाषाओं के विकास के आंदोलन को 'विघटन आंदोलन' की संज्ञा दी। रामविलास जी उर्दू, हिंदी और जनपदीय भाषाओं के मेल से एक विशाल हिंदी प्रदेश और हिंदी जाति के निर्माण की अनिवार्यता पर जोर देने लगे, क्योंकि वही उन्हें अंग्रेजी के भाषाई साम्राज्यवाद का टक्कर देने के लिए उपयुक्त लगा। संगी-साथी के रूप में विकसित हुई भाषाएँ एक-दूसरे के विरोध में खड़ी हो गई. सूर-तुलसी-मीरा जैसे कवियों को पैदा करने वाली भाषाएँ अब हिंदी की बोलियां हो गई. और इन बोलियों में लिखने वाले आधुनिक युग के रचनाकार के लिए हिंदी साहित्य दरवाजा बंद हो गया।"[1]

परंतु इन जनपदीय भाषाओं की चिंता से भी अधिक वह हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की प्रचलित परिपाटी के अनैतिहासिक, स्वेच्छाचारी और अवैज्ञानिक परंपरा से क्षुब्ध थे। उन्हें यह अतार्किक लगता था कि - "आधुनिक काल से पहले तक तो हम हिंदी भाषा-समूह का इतिहास लिखते हैं लेकिन आधुनिक काल आते ही हम संघ-भाषा हिंदी (खड़ी बोली का संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप) का इतिहास लिखने लगते हैं। पहले हमारी भावुकता हिंदी की परंपरा को दीर्घतम और विशालतर दिखाने में व्यस्त होती है और हिंदी भाषा-समूह की किसी भाषा या बोली की एक भी रचना को इस इतिहास-परंपरा से विलग करना बर्दाश्त नहीं करती किंतु फिर खड़ीबोली के संस्कृतनिष्ठ रूप में ही (खड़ीबोली का फारसीनिष्ट 'उर्दू' रूप भी इसमें सम्मिलित नहीं किया जाता) सीमित हो जाती है"[2]।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में अपनाए गए इस मनमाने तरीके के मूल में हिंदी साहित्य के आरंभिक इतिहास लेखकों की मूल चिंता थी कि हिंदी-उर्दू की प्रतिद्वंद्विता में राष्ट्रभाषा के पद पर हिंदी को कैसे स्थापित किया जाए। यह तभी हो सकता था जब हिंदी हर मामले में उर्दू से बीस पड़े। परंतु उस समय की सच्चाई यह थी कि खड़ीबोली(हिंदी) मीर और ग़ालिब की परंपरा

वाली उर्दू के समक्ष बहुत कमतर दिखती थी। इसीलिए हिंदी को संपूर्ण हिंदी-भाषी प्रदेश के साहित्यिक विरासत से जोड़ दिया गया। शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है - "जिस समय प्रथम बार अधिकारी विद्वानों ने हिंदी साहित्य के इतिहास का अनुसंधान किया, उससे बहुत पहले ही एक ओर हिंदी-उर्दू की प्रतिद्वंद्विता उग्र रूप धारण कर चुकी थी तो दूसरी ओर ब्रजभाषा-खड़ीबोली का विवाद भी चल पड़ा था। इन दोनों विवादों के पीछे राजनीतिक और एक सीमा तक सांस्कृतिक कारण थे, जिन्होंने सर्वसाधारण की धारणाओं को परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों की संकीर्ण, सांप्रदायिक सीमाओं में केंद्रित कर दिया था। फलत: हमारे अध्यवसायी, विद्वान इतिहासकारों के संस्कार भी इन प्रचलित धारणाओं से भी प्रभावित थे"।[3]

शिवदान सिंह चौहान हिंदी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएँ मानते हैं। उन्होंने लिखा है - "हिंदी और उर्दू भिन्न भाषाएँ हैं, इस तथ्य को स्वीकार करना हमारे लिए आवश्यक है; क्योंकि वास्तव में, चाहे प्रिय हो या अप्रिय, सत्य यही है। हिंदी वाले जब उर्दू को हिंदी की शैली बताते हैं अथवा उर्दू वाले जब हिंदी को उर्दू की शैली बताते हैं तब वह हिंदी अथवा उर्दू के ऐतिहासिक विकास की अवहेलना करते हैं"।[4]

शिवदान सिंह चौहान अन्यत्र लिखते हैं - "हिंदी और उर्दू की भिन्नता केवल शब्दों के संस्कृत या फ़ारसी प्रयोग तक ही सीमित नहीं है। उनके व्याकरण, पिंगल, वाक्यविन्यास आदि में भी मौलिक भेद उत्पन्न हो गया है। .....हिंदी व्याकरण पर संस्कृत व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है और उर्दू व्याकरण पर फारसी और सामी भाषा अरबी व्याकरण की गहरी छाप पड़ गई है। हिंदी में संस्कृत से जो तत्सम शब्द उधार लिए जाते हैं उनका प्रयोग बहुधा संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही किया जाता है। .....इसी प्रकार उर्दू साहित्य और भाषा के निर्माण में यद्यपि हिंदुओं ने भी पर्याप्त योगदान किया है तो भी उर्दू की भावभूमी हिंदी से सर्वथा भिन्न है। उसकी विचारधारा, दृष्टिकोण, भावधारा मुस्लिम संस्कृति से निरूपित है। उर्दू काव्य में इस्लामी पुराण के उपाख्यानों के दृष्टांत रहते हैं, उसकी अन्योक्तियाँ, रूपक और उपमाएँ अरबी-फारसी की कार्य पद्धति से प्रभावित हैं। हिंदी और उर्दू की शैली में जो मौलिक भेद है वह गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से व्यक्त है"।[5]

परंतु रामविलास शर्मा इन्हें खड़ीबोली हिंदी की दो भिन्न-भिन्न शैलियाँ मानते थे। लेकिन उन्होंने 'भाषा और समाज' लिखा है कि – "बोलियों का भेद ध्वनि, व्याकरण और शब्द भंडार तीनों के कारण होता है। इन में अंतिम भेद मुख्य है"।[6] यदि शब्द भंडार को मुख्य भेद मान लिया

जाए तो हिंदी और उर्दू अलग-अलग भाषाएँ मानी जाएँगी। इस तरह उर्दू-हिंदी को एक भाषा की दो शैलियाँ मानने से रामविलास शर्मा की विचारधारा में अंतर्विरोध आ जाता है।

शिवदान सिंह की मुख्य चिंता थी कि इस तरह के अवैज्ञानिक इतिहास दृष्टियों से विद्यार्थियों के भीतर लोकतांत्रिक और जनवादी दृष्टिकोण के बजाय अराजकतावादी और सामंती दृष्टिकोण का विकास होगा। विद्यार्थियों को लगेगा कि जिस तरह से पुराने जमाने में कभी एक सामंत का अधिपत्य था तो कभी दूसरे का तो कभी तीसरे का इसी तरह से हिंदी साहित्य में पहले के एक भाषा का फिर दूसरे भाषा का फिर तीसरी भाषा का अधिपत्य रहा है।

डॉ. अमरेंद्र त्रिपाठी ने अपने 'शोध-प्रबंध' में ठीक ही लिखा है कि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' ने उन सभी "असुविधाजनक सवालों को व्यवस्थित तरीके से उठाया है जिससे एक आम विद्यार्थी सदैव टकराता है। यदि अमीर खुसरो खड़ी बोली हिंदी का पहला कवि है तो अगले 400 वर्षों तक खड़ी बोली हिंदी में कविता क्यों नहीं लिखी गई? क्या तुलसीदास के बाद अवधी में कोई रचनाकार पैदा नहीं हुआ? क्या भारतेंदु के बाद ब्रजभाषा काव्य की समृद्ध काव्य परंपरा अचानक लुप्त हो गई? क्या उसमें राय देवी प्रसाद पूर्ण जैसे कवि भी सक्रिय नहीं थे? हिंदी प्रदेश की तमाम छोटी-छोटी भाषाओँ की श्रेष्ट रचनाओं को हिंदी साहित्य के इतिहास में जगह मिली तो फिर उर्दू के कवियों को क्यों नहीं? यदि उर्दू हिंदी भाषा-भाषी समूह की भाषा नहीं है तो किस समूह की भाषा है? तो क्या केवल उसकी लिपि भिन्न थी या उसका भावबोध अलग था? यदि लिपि की भिन्नता ही इसका कारण था तो कैथी लिपि में लिखने वाले विद्यापति को हिंदी साहित्य में जगह क्यों मिली? यदि मामला भावबोध का है तो क्या हिंदी साहित्य हिंदू भावबोध तक ही सीमित है? यह सब सहज साहित्य के विकास था या यथासाध्य सांप्रदायिक विभेद? इसमें कोई जनवादी वैज्ञानिक दृष्टि सक्रिय थी यह संकीर्ण सांप्रदायिक सामंती सोच? यह और इस जैसे अनेकानेक और सहज प्रश्न है जो हिंदी साहित्य के इतिहास के हर एक लेखक और अध्ययनकर्ता को परेशान करते हैं परंतु हम इस पर केवल इसलिए विचार नहीं करते क्योंकि यह हमारी रूढ़ और सर्व-स्वीकृत विचार-प्रणाली को ध्वस्त कर देता है। चौहान जी ने इन असंगतियों पर निरपेक्ष भाव और वैज्ञानिक नजरिए से विचार किया और उनके सरल समाधान भी प्रस्तुत किये"।[7]

पुरुषोत्तम अग्रवाल ने भी लिखा है - "हिंदी साहित्य का आरंभ 1873 ई. से मानने की समस्याएं अपनी जगह लेकिन हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं या ग्यारहवीं सदी से मानने की भी अपनी समस्याएं हैं। इन समस्याओं से जूझने के लिए चौहान जी के विचार सूत्र महत्वपूर्ण और

प्रसांगिक हैं। इन विचार सूत्रों को आप प्रस्थान के रूप में ले सकते हैं और विचारोत्तेजक प्रतिपक्ष के रूप में भी"।[8]

वास्तव में शिवदान सिंह चौहान बस इतना चाहते थे कि यदि हिंदी साहित्य के इतिहास को हिंदी भाषा-समूह का इतिहास बनाना है तो उसमें भाषा समूह की हर भाषा की देन को समान भाव से स्वीकार किया जाना चाहिए। तभी इस प्रदेश की जातीय सांस्कृतिक एकता को ज्यादा मजबूत आधार प्रदान किया जा सकता है। ऐसा नहीं करने से हिंदीवाद के संकीर्ण नजर से 'हिंदी जाति' तमाम असंगतियों को जन्म देगा, और इस अवधारणा के तहत ऐसा प्रतीत होगा कि जनपदीय भाषाओं का विकास हिंदी के लिए खतरा है। अब प्रश्न है कि 'हिंदी जाति' की अवधारणा में ऐसा क्या है, जो हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में असंगतियां उत्पन्न करता है। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

3.2 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और जातीयता की अवधारणा

हिंदी भाषा और साहित्य के जातीय रूप का प्रश्न डॉ. रामविलास शर्मा के इतिहास चिंतन का केंद्रीय सरोकार है। इस प्रश्न के अंतर्गत मुख्य रूप से तीन प्रश्न समाहित हैं। पहला, हिंदी जाति के निर्माण का प्रश्न; दूसरा, जातीय भाषा के रूप में हिंदी के विकास का प्रश्न और तीसरा, हिंदी साहित्य के जातीय रूप का प्रश्न। इन सभी प्रश्नों का संबंध हिंदी भाषा के जातीय रूप के विकास और हिंदी भाषी समाज का जाति के रूप में गठन से है। हिंदी जाति के गठन के संदर्भ में रामविलास शर्मा की अलग-अलग कालों में मुख्य रुप से तीन मान्यताएँ दिखाई पड़ती हैं। सन 1960 ई. से पहले वह भारत में पूँजीवाद के उदय से अर्थात 15-17वीं शताब्दी से हिंदी जाति के निर्माण प्रक्रिया का आरंभ मानते थे और भक्तिकाल को हिंदी जाति के उत्थान की अभिव्यक्ति मानते थे। इसके पीछे संभवत: लेकिन द्वारा 17वीं शताब्दी के आरंभ में रूसी जाति के निर्माण की धारणा रही हो।*

इसके बाद सन 1974 ई. में रामविलास शर्मा ने हिंदी जाति और उसके साहित्य के निर्माण संबंधी अपनी मान्यता बदलते हुए एक लेख में लिखा है – "मोटे रूप से बाहरवीं सदी को नयी

*लेनिन के अनुसार लगभग 17वीं सदी के आरंभ में रूसी सौदागरों ने छोटे स्थानीय बाजारों को मिलाकर एक विशाल अखिल रूसी बाजार कायम किया और इससे रूसी जाति का निर्माण हुआ। - रामविलास शर्मा, भाषा और समाज; पृष्ठ संख्या 241

जातियों के निर्माण का आरंभिक काल मान सकते हैं। इस समय आधुनिक भाषाओं में जातीय साहित्य की रचना आरंभ होती है। समाज और साहित्य का आधुनिक काल 12वीं सदी से आरंभ होता है। सामाजिक स्तर पर इसका लक्षण है सामंती व्यवस्था का विघटन, व्यापारी पूँजीवाद का विकास, नए सामाजिक संबंधों का प्रसार, साहित्यिक स्तर पर इसका लक्षण है सामंतविरोधी प्रवृतियों का उद्भव और प्रसार, नए मानवतावाद की प्रतिष्ठा।"[9] ऐसा डॉ. रामविलास शर्मा ने इसलिए कहा कि बी.एन. दत्ता, एस.ए. डांगे, डी.डी. कोसांबी, डी.एन. झा, इरफान हबीब, आर.एस. शर्मा आदि इतिहासकारों ने माना था कि भारत में सामंतवाद का उदय तीसरी-चौथी शताब्दी में होता है और इसका अंत 12वीं शताब्दी के अंत तक हो जाता है। इसी को ध्यान में रखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी जाति और साहित्य के विकास में भी सामंतवाद के पतन के उपरांत आधुनिक हिंदी जाति और उसके जातीय साहित्य निर्माण आरंभ की होने की बात कही।

फिर इन्होंने एक नया सवाल उठाया कि – सामंती युग में जाति(नेशनलटी) का गठन होता है या नहीं और होता है तो उसका आधार क्या है। पूँजीवाद के अभ्युदय काल में नए सिरे से जातियों का गठन होता है। इस गठन का आधार नए पूँजीवादी बाजार का निर्माण माना जाता है। किंतु पूँजीवादी विकास से पहले, और पुराने कबीलों के विघटन के बाद 'बीच' की मंजिल में समाजिक गठन का कोई जातीय रूप होता है या नहीं? वैज्ञानिक समाजशास्त्र में सामंती विघटन की चर्चा अक्सर रहती है। यह विघटन पूँजीवादी एकीकरण की तुलना में ही विघटन है। पुराने कबीलों को देखते हुए सामंती समाज अपनी जातीय सीमा-रेखाओं में अधिक विस्तृत होता है।"[10]

रामविलास शर्मा का मानना है कि सामंती युग में लघु जाति का निर्माण होता है। जातीय निर्माण में सामंतवाद के योगदान के संदर्भ में उन्होंने लिखा है - "आधुनिक भाषाओं का विकास समझने के लिए उन्हें बोलने वाली आधुनिक जातियों का विकास समझना आवश्यक है। इन आधुनिक जातियों का विकास सामंती व्यवस्था की लघु जातियों के विकास से संबद्ध है और इन लघु जातियों का विकास प्राचीन जनों के विघटन और एकीकरण से संबद्ध है। भारत में बहुत सी ऐसी लघु जातियाँ हैं जिन्होंने अपने प्राचीन काल की स्मृतियों को सुरक्षित रखा है। इस सिलसिले में हम ब्रज का उदाहरण ले सकते हैं।"[11]

सामंती युग से लघुजाति के आरंभ की डॉ. रामविलास शर्मा की परिकल्पना के पीछे 'फ्रेड्रिक एंगेल्स' की प्रेरणा मालूम होती है। उन्होंने लिखा है – "रोमन साम्राज्य के बाद यूरोप के मध्य

युग के बारे में 'एंगेल्स' ने 'परिवार, व्यक्तिगत संपत्ति और राज्यसत्ता' की उत्पत्ति नामक ग्रंथ में लिखा था कि यद्यपि ये चार सौ वर्ष अनुत्पादक थे, फिर भी भूस्वामियों के लिए यह नए युग का सूत्रपात था और आधुनिक इतिहास के लिए इन 400 वर्षों ने एक महान वस्तु तैयार कर दी थी और वह थी 'आधुनिक जातियाँ(नेशनलिटी)। इससे मालूम होता है कि एंगेल्स सामंती युग में लघुजातियों का उद्भव और अस्तित्व स्वीकार करते थे। इस संबंध में उन्होंने उपर्युक्त ग्रंथ में अन्यत्र जो कुछ कहा है, उससे लघु जातियों की निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। अमेरिका के आदिवासी जातियों के बारे में उन्होंने लिखा था कि कुछ क्षेत्रों में उन्होंने स्थाई संघ बनाए थे और इस प्रकार जातियों(नेशन) के निर्माण की ओर उन्होंने पहला कदम उठाया था।"[12] फ्रेड्रिक एंगेल्स और अन्य मार्क्सवादीयों की लघुजाति के निर्माण के संदर्भ में विचारों की चर्चा यथावसर नीचे की जाएगी।

फिलहाल अंत में रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्रगतीशील साहित्य की समस्याएँ' में लिखा कि - "हिंदी भाषा के मूल तत्व आदिम साम्यवादी व्यवस्था में मौजूद थे, यानी ऋग्वेद की रचना से भी पहले हमारी हिंदी भाषा के मूल तत्व मौजूद थे। उस समय भी उसकी व्याकरण व्यवस्था का वजूद था, भले ही वह एक आदिम रूप में रही हो।"[13]

अपनी इस मान्यता के पक्ष में उन्होंने स्टालिन का यह कथन उधृत किया है – "हम यह मान लें कि आधुनिक भाषा के मूल तत्व अति प्राचीन काल ही में दासता के युग से पहले मौजूद थे। यह बहुत कुछ सादी भाषा थी, जिसका शब्द भंडार बहुत ही न्यून था लेकिन जिसकी अपनी व्याकरण व्यवस्था थी। यह सच है कि यह व्यवस्था आदिम थी फिर भी वह थी व्याकरण व्यवस्था ही।"[14]

इस तरह हम देखते हैं कि डॉ. रामविलास शर्मा अलग-अलग समय में अलग-अलग तर्कों को आधार बनाते हुए हिंदी भाषा और जाति के उत्पत्ति काल को 17वीं शताब्दी से आरंभ करके आदिम साम्यवादी व्यवस्था तक ले जाते हैं। उन्होंने जाति और जातीय भाषा के विकास का इस तरह से तीन चरण या अवस्था माना है। पहला, जनजाति जिसमें हरेक गण की अपनी अलग भाषा और बोली माना है। दूसरा, गणों के आपस में स्थाई रूप से मिलकर संघ का निर्माण करने और किसी एक गण की भाषा या बोली को पूरे संघ की भाषा बन जाने पर लघुजाति के निर्माण की बात कही है। तीसरी अवस्था में छोटे-छोटे बहुतेरे लघुजातियों के मिलने से किसी एक लघुजाति की भाषा या बोली को सबके द्वारा स्वीकार करने से महाजाति के निर्माण की बात कही है। इस तरह आधुनिक काल तक आते-आते जनजाति से लेकर

महाजाति तक या फिर हिंदी भाषा के विशेष संदर्भ में कहें तो हिंदी जाति - जो कि रामविलास शर्मा की अवधारणा के अनुसार महाजाति है - तक उनकी जातीयता की अवधारणा पूरी होती है। इसलिए यहाँ इनकी जातीयता की अवधारणा पर विचार करना आवश्यक है।

डॉ. रामविलास शर्मा की जाति संबंधी मान्यता है कि सामान्य रूप से जाति का गठन जन-समाज के विखरने और सामंतवाद के अभ्युदय के साथ क्रमशः दो चरणों – लघुजाति और महाजाति - में होता है। उन्होंने लिखा है कि कोस्मिन्सकी और स्टालिन की भी जाति के निर्माण के संदर्भ में यही मान्यता है। रामविलास शर्मा के अनुसार कोस्मिन्सकी ने 'द फॉर्मेशन ऑफ भी इंग्लिश नेशन' में लिखा है कि - "इतिहासकार के लिए, विशेषकर मध्यकाल-विशेषज्ञ के लिए सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह है कि वह इस बात कि व्याख्या करे कि पूँजीवाद से पहले के युग में जाति(नेशन) के विभिन्न तत्व कैसे धीरे-धीरे विकसित हुए। मध्यकाल के विशेषज्ञ को उस जन-समाज(कम्युनिटी ऑफ पीपल) से खास दिलचस्पी है जो जाति(नेशन) के निर्माण से पहले थी और जिसे लघुजाति(नैशनैलिती) कहना चाहिए। लेकिन यह पेचीदा सवाल है जिसकी विशेष छानबीन आवश्यक है; उस पर हम इस समय विचार न करेंगे।"[15]

परंतु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है किन कारणों की वजह से 'कोस्मिन्सकी' ने लघुजाति की अवधारणा को पेचीदा सवाल मानते हुए, उस पर विचार नहीं किया। आगे इसी पृष्ठ पर रामविलास शर्मा लिखा है कि इस लघुजाति के पेचीदे सवाल पर स्टालिन ने विचार किया है, जो यह है –

"ऑस्ट्रिया, हंगरी और रूस के राज्यों के निर्माण की चर्चा करते हुए उन्होंने(स्टालिन) लिखा था कि इन देशों में राज्य-निर्माण की विशेष प्रक्रिया का कारण यह था कि सामंतवाद का पूरी तरह खत्मा न हुआ था, पूँजीवादी विकास कमजोर था और 'जो लघुजातियाँ पीछे ठेल दी गई थीं, वे आर्थिक रूप से सुसंबद्ध महाजातियों के रूप में अपने को सुगठित न कर सकी थीं।' अन्यत्र उन्होंने(स्टालिन) पूर्वी यूरोप के बारे में लिखा था कि वहाँ सुकेंद्रित राज्य पहले से बने थे और उनमें से 'प्रत्येक में अनेक लघुजातियाँ थीं जो अभी महाजातियों के रूप में निर्मित न हुई थीं लेकिन जो एक सामान्य राज्य में संग्बद्ध हो गयी थीं। मार्क्सवाद और भाषा विज्ञान के संबंध में प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्टालिन ने लघुजातियों की भाषा से महाजातियों की भाषा के विकास की बात की थी। सिकंदर और सीजर के साम्राज्यों को उन्होंने कबीलों और लघुजातियों का जमघट बताया था। स्पष्ट है कि कबीलों की समाज के बाद और पूँजीवाद के अभ्युदय से पहले

वह मानव-समाज को लघुजतियों के रूप में गढ़ा हुआ मानते थे किंतु इन लघुजातियों की निर्माण-प्रक्रिया, उनके आर्थिक आधार आदि की व्याख्या उनकी रचनाओं में नहीं है।"[16]

ऊपर के दो लंबे उद्धरणों से एक बात स्पष्ट होती है कि कोस्मिन्सकी ने जहाँ लघुजाति की अवधारणा को पेचीदा सवाल बताकर उस पर विचार नहीं किया वहीं स्टालिन ने तो लघुजाति के बारे में बात तो की परंतु उसकी अवधारणा, निर्माण प्रक्रिया, उसके आर्थिक आधार आदि के बारे में कुछ नहीं कहा।

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि वास्तव में लघुजाति की अवधारणा की सम्यक और कोई एक ठोस व्याख्या करने के पक्ष में किसी जातीयता के अवधारणा के पुरोधाओं के पास भी बहुत अधिक प्रमाण, तथ्य और उदाहरण आदि नहीं थे। रामविलास शर्मा ने लघुजाति के उत्पत्ति को लेकर जो अवधारणा बनाई है, उसका आधार उन्होंने एंगेल्स के 'परिवार, व्यक्तिगत संपत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ में लघुजाति(नेशन) के संदर्भ में एंगेल्स की अवधारणा को बनाया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में एंगेल्स ने वही सब कहा है, जो डॉ. रामविलास शर्मा ने उनके नाम से लिखा है।

एंगेल्स के मूल पुस्तक 'दि ओरिजिन ऑफ द फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एंड द स्टेट' देखने पर पता चलता है कि उन्होंने जाति(नेशन) के निर्माण के 'पहला कदम' के संदर्भ में जो बात कही है उसका परिपेक्ष्य अलग है। एंगेल्स ने लिखा है – 'रक्त संबंधों से जुड़े हुए गण समुदाय (kindred tribes)* समय-समय पर कुछ समय के लिए तात्कालिक आवश्यकताओं के कारण संघ का निर्माण करते थे और अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर फिर से अलग हो जाते थे। परंतु इन्हीं रक्त संबंधों वाले गणों (kin) में से कुछ ने आपस में मिलकर स्थाई संघ की भी स्थापना की, जो जाति के निर्माण की ओर पहला कदम था'। इस तरह यहाँ स्पष्ट है कि इन संघों के स्थायी रूप से निर्माण की बात तो एंगेल्स ने कही तो है, परंतु इस निर्माण के कारण की उन्होंने चर्चा नहीं की है। इसके अलावा यहाँ यह भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि एंगेल्स ने

*The great majority of American Indians did not go beyond the league of tribes। With a few tribes of small membership, separated by wide boundary tracts, weakened by unceasing warfare, they occupied an immense territory। Leagues were now and then formed by kindred tribes as the result of momentary necessity and dissolved again under more favourable conditions। But in certain districts, tribes of the same kin had again found their way out of disbandment into permanent federations, **making the first step towards the formation of nations।** –TRANSLATED BY ERNEST UNTERMANN, THE ORIGIN OF THE FAMILY PRIVATE PROPERTY AND THE STATE BY FREDERICK ENGELS; PAGE NO : 114

जाति के निर्माण के प्रथम कदम के रूप में इन गणों द्वारा आपस में मिलकर स्थाई संघ बनाए जाने का आधार रक्त संबंध को माना था।

'जाति के निर्माण की ओर प्रथम कदम उठाने' के एंगेल्स के मत की व्याख्या करते हुए अगले ही पंक्ति में रामविलास शर्मा लिखते हैं - "एंगेल्स के मत से कबीलों का स्थाई संघ बनना जाति-निर्माण के लिए आवश्यक है। जनसंख्या बढ़ने के साथ वह इस तरह का संघ बनना अनिवार्य समझते थे"[17]। उन्होंने इसके समर्थन में उसी जगह ऐंगल्स को उद्धृत किया है - "जनसंख्या का घनत्व बढ़ने से यह आवश्यकता उत्पन्न हुई कि आंतरिक रूप से और बाहरी दुनिया के विरुद्ध संघबद्ध हुआ जाए। हर जगह संबंधित जातियों का संघ आवश्यक हुआ और शीघ्र ही उनका परस्पर घुलमिल कर एक होना भी आवश्यक हो गया। तब कबीलों के विभिन्न प्रदेश(जनपद) जनता के एक ही विशाल प्रदेश(महाजनपद) में घुल मिल कर एक हो गए।"[18] परंतु यहाँ ध्यान देने वाली बात है कि एंगेल्स ने यह बात अमेरिकी आदिवासी गण समुदाय – जिसने स्थायी संघ बनाकर जाति के निर्माण की ओर प्रथम कदम उठाया - के संदर्भ में नहीं कही है। बल्कि इस पुस्तक में बहुत बाद में नवें अध्याय में जाकर 'बर्बरता और सभ्यता' का विवेचन करते हुए सभ्यता के विकास के संदर्भ में यह बात कही है।* परंतु रामविलास शर्मा ने जिस तरह से 'भाषा और समाज' में एंगेल्स के इस मत को उधृत किया है उससे लगता है कि एंगेल्स ने ये बातें अमेरिकी आदिवासीयों के गणों की उस अवस्था और काल के संदर्भ में कही हो, जब इसने 'जाति के निर्माण के लिए प्रथम कदम उठाया' था।

---

*The distinction between rich and poor was added to that between free men and slaves। This and the new division of labor constitute a new division of society into classes। The differences in the amount of property belonging to the several family heads broke up the old communistic households one by one, wherever they might have been preserved thus far। This made an end to the collective cultivation of the soil for the account of the community। The cultivated land was assigned for use to the several families, first for a limited time, later for once and all। The transition to full private property was accomplished gradually and simultaneously with the transition from the pairing family to monogamy। The monogamous family began to be the economic unit of society।

The increase of population necessitated a closer consolidation against internal and external foes। The federation of related tribes became unavoidable। Their amalgamation, and thence the amalgamation of the separate tribal territories to one national territory, was the following step। –THE ORIGIN OF THE FAMILY PRIVATE PROPERTY AND THE STATE; PAGE NO :199-200

रामविलास शर्मा फिर यहीं 'विशाल प्रदेश(महाजनपद) में घुल मिलकर एक हो जाने के' ऐंगल्स के मत को उद्धृत करते हुए अगली पंक्ति में लिखते हैं – "सामंती व्यवस्था में लघुजातियों के निर्माण की यह सुंदर व्याख्या है। उत्पादन और वितरण में विकास, संपत्ति का अर्जन और केंद्रीकरण यह आवश्यकता उत्पन्न करता है। प्राचीन जनों का बिखराव परस्पर विनिमय व्यापार आदि के विकास में बाधक होता है।"[19] परंतु यहाँ फिर से ध्यान देने योग्य है कि ऐंगल्स ने 'विशाल प्रदेश(महाजनपद) के घुल-मिलकर एक हो जाने' के पीछे उत्पादन और वितरण में विकास तथा केंद्रीकरण की आवश्यकता को कारण नहीं माना था। रामविलास शर्मा ने ये दोनों बातें अपने तरफ से लिखी हैं। ऐंगल्स ने इस संदर्भ में सिर्फ 'संपत्ति के अर्जन' की बात कही है। एंगेल्स लिखते हैं कि सभ्यता के विकास के आरंभ में ये लोग बर्बर थे और उत्पादन के बजाए चोरी-डकैती, लूट-मार आदि से धन कमाना इन्हें अधिक सम्मानजनक लगता था। इसी कारण यह धन कमाने का उस समय का सामान्य तरीका हो गया था।[*]

परंतु यहाँ ध्यान देने की बात है कि इस समय बड़े पैमाने पर कृषि होने लगी थी। इसके अलावा धातु के काम, दस्तकारी आदि का भी विकास हो चुका था। रामविलास शर्मा ने संभवत: इसलिए ही उत्पादन और वितरण की कल्पना कर ली होगी। परंतु यथोचित तो यही जान पड़ता है कि इस समय कृषि, दस्तकारी, धातु के काम आदि के विकास होने के बावजूद उत्पादन इतना अधिक नहीं रहा होगा कि उसके व्यापक रूप से वितरण और व्यापार की आवश्यकता महसूस हो। उत्पादक के अपने उपयोग के बाद जो कुछ थोड़ा-बहुत बचता भी होगा वह चोरी-डकैती आदि के माध्यम से लूट लिया जाता रहा होगा। इसके अलावा हमें इस तथ्य पर भी ध्यान देना पड़ेगा कि उत्पादन से अधिक जनसंख्या में वृद्धि हुई होगी - क्योंकि आज भी यही हो रहा है - तभी तो इतने अधिक दास या बेगार में काम करने वाले आसानी से उपलब्ध हो

[*]The military leader—Rex, Basileus, Thiudans—became an indispensable and standing official। The public meeting was introduced wherever it did not yet exist। The military leader, the council of chiefs, and the public meeting formed the organs of the military democracy that had grown out of the gentile constitution। Military democracy—for now war and organization for war were regular functions of social life। The wealth of the neighbours excited the greed of nations that began to regard the acquisition of wealth as one of the main purposes of their life। They were barbarians: robbing appeared to them easier and more honourable than producing। War, once simply a revenge for transgressions or a means for enlarging a territory that had become too narrow, was now waged for the sake of plunder alone and became a regular profession। Not in vain did threatening walls cast a rigid stare all around the new fortified towns: their yawning ditches were the tomb of the gentile constitution, and their turrets already reached up into civilization। The internal affairs underwent a similar change। The plundering wars increased the power of the military leader and of the sub commanders। The habitual election of the successors from the same family was gradually transformed into hereditary succession, first by sufferance, then by claim, and finally by usurpation। Thus the foundation of hereditary royalty and nobility was laid। - THE ORIGIN OF THE FAMILY PRIVATE PROPERTY AND THE STATE; PAGE NO : 200

सके होंगे। इसके अलावा बाढ़, सूखा, प्लेग, उत्पादन तकनीकों की आदिम अवस्था के साथ-साथ उस समय मनुष्यों की औसत आयु भी 30-35 वर्ष से अधिक नहीं रही होगी। अतः इन परिस्थतियों में जरूरत से अधिक उत्पादन और उसके व्यापार और वितरण की संभावना नगण्य ही कही जा सकती है। परंतु इस युग में कुछ थोड़े बहुत व्यापार और वितरण की बात एंगेल्स ने भी स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है - कुछ देशी-विदेशी व्यापार आरंभ हुए परंतु वे आदिम और बहुत ही अविकसित अवस्था में थे और सबसे महंगी धातु मुद्रा के रूप में प्रयुक्त की जाती थी।[*] परंतु यह व्यापार और वितरण इतना अधिक किसी भी तरह नहीं था जिससे कि प्रदेशों का एकीकरण कर विशाल प्रदेश(महाजनपद) की स्थापना की आवश्यकता महसूस होती। रामविलास शर्मा ने भी एक जगह अप्रत्यक्ष रुप से स्वीकार किया है कि सामंती व्यवस्था में प्रदेशों के एकीकरण में युद्ध हिंसा आदि की भूमिका व्यापार-वितरण से अधिक होती है, व्यापार और वितरण आदि तो एकीकरण के परिणाम स्वरुप उप-उत्पाद के रूप में सामने आते हैं। - "शूरसेन जनपद पर मगधवासी मौर्य शासकों का अधिकार होता है। आधुनिक हिंदी प्रदेश के दो ओर-छोर के भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले जन एक-दूसरे से निकट आते हैं। निकट आने की यह प्रक्रिया ही युद्ध, हिंसा और राज्य-विस्तार की सामंती पद्धति से संपन्न होती है। लेकिन इस सामंती एकीकरण का एक सफल पक्ष था। मौर्य शासकों ने पेशावर से पाटलिपुत्र तक 1850 मील लंबी सड़क बनाई. यह सड़क राजगृह, काशी, प्रयाग, साकेत, कौशांबी, कन्नौज, मथुरा, हस्तिनापुर, सांकल, तक्षशिला और पुष्कलवती होती हुई पेशावर जाती थी। इस प्रकार शूरसेन जनपद काल का अलगाव दूर हुआ; मथुरा नगर व्यापार का प्रमुख केंद्र बना और विभिन्न जनपदों को निकट आने में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण सिद्ध हुई."[20] यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि मौर्य शासकों ने यह सड़क 'व्यापार और वितरण' की आवश्यकता महसूस करके नहीं बल्कि शासन-प्रशासन की सुविधा के लिए बनाई थी। इस तरह से इसके माध्यम से व्यापार और वितरण का विकास होना अधिक से अधिक एक संयोग और उप-उत्पाद ही कहा जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ पर विभिन्न प्रदेशों(जनपदों) के एक ही विशाल प्रदेश(महाजनपद) में घुल-मिलकर एक हो जाने की प्रक्रिया के पीछे उत्पादन और वितरण में विकास नहीं बल्कि संपत्ति का अर्जन और केंद्रीकरण की आवश्यकता थी।

---

[*] The division of production into two great branches, agriculture and handicrafts, gave rise to production for exchange, the production of commodities। Trade arose at the same time, not only in the interior and on the tribal boundaries, but also in the form of maritime exchange। All this was as yet in a very undeveloped state। The precious metals gained preference as a universal money commodity, but still uncoined and exchanged merely by dead weight। - THE ORIGIN OF THE FAMILY PRIVATE PROPERTY AND THE STATE; PAGE NO : 198

इस तरह हम पाते हैं कि एंगेल्स ने कहीं भी लघुजाति के संदर्भ में अपनी पुस्तक में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है। वे केवल जाति(नेशन) की बात करते हैं। और यूरोप में रोमन साम्राज्य के पतन(पांचवीं शती) के 400 वर्ष बाद आधुनिक जाति(मॉडर्न नेस्नालितिज़) की उत्पत्ति मानते हैं। उन्होंने लिखा है - रोमन साम्राज्य के पतन के 400 वर्ष बाद भी यद्यपि बहुत कुछ नहीं बदला फिर भी समाज में आंतरिक रुप से बहुत कुछ परिवर्तन आया। मसलन अब तक दास प्रथा का अंत हो गया था। मालिक और नौकर, जमींदार और किसान आदि नए पुराने वर्ग बचे थे। लेकिन इन वनिस्पत अनुत्पादक 400 वर्षों ने जो एक महान वस्तु दी वह थी – 'आधुनिक जातियाँ (मॉडर्न नेस्लातिज़)' जिसने पश्चिमी यूरोप को आने वाले दिनों में नए तरह से संगठित होने की राह दिखायी।*

रामविलास शर्मा इसी की चर्चा करते हुए लिखते हैं – "आधुनिक इतिहास के लिए इन 400 वर्षों ने एक महान वस्तु तैयार कर दी थी और वह थी 'आधुनिक जातियाँ(नेशनलिटी)। इससे मालूम होता है कि एंगेल्स सामंती युग में लघुजातियों का उद्भव और अस्तित्व स्वीकार करते थे। इस संबंध में उन्होंने उपर्युक्त ग्रंथ में अन्यत्र जो कुछ कहा है, उससे लघु जातियों की निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है।"[21] चुकी एंगेल्स अपनी इस पुस्तक में यूरोप में नवीं शताब्दी (अर्थात रोमन साम्राज्य के पतन के 400 वर्ष बाद) में आधुनिक जातियों के निर्माण के आरंभ की चर्चा करते हैं और कबीलाई युग में जाति की निर्माण की ओर 'प्रथम कदम' की बात भी स्वीकार की है। इस परिपेक्ष्य में रामविलास शर्मा का यह कहना कि एंगेल्स ने लघुजाति की चर्चा की है, हमें यह मानने को बाध्य करता है कि 9वीं सदी से 'आधुनिक जातियाँ(मॉडर्न नेस्नालितिज़)' के आरम्भ की जो बात एंगेल्स ने कही है वास्तव में उससे उनका आशय 'आधुनिक या महाजाति जाति' नहीं बल्कि 'लघुजाति' के निर्माण से है। इस तर्क को इससे भी आधार मिलता है कि सामान्य रूप से 9वीं शताब्दी से ही यूरोप में सामंतवाद का उदय माना जाता है। और यह तो बहुप्रचलित धारणा है ही कि सामंतवादी युग में ही लघुजाति का निर्माण

* Yet some progress had been made during these four hundred years। Although in the end we find the same main classes as in the beginning, still the human beings that made up these classes had changed। The ancient slavery had disappeared; gone were also the beggared freemen who had despised work as slavish। Between the Roman colonist and the new serf, there had been the free Frank peasant। The "useless remembrance and the vain feud" of the decaying Roman nation was dead and gone। The social classes of the ninth century had been formed during the travail of a new civilization, not in the demoralization of a sinking one। The new race, masters and servants, were a race of men as compared to their Roman predecessors। The relation of powerful landlords to serving peasants, which had been the unavoidable result of collapse in the antique world, was for the Franks the point of departure on a new line of development। Moreover, unproductive as these four hundred years may appear, they left behind one great product: the modern nationalities, the reorganization and differentiation of West European humanity for the coming history। – AS ABOVE, PAGE NO : 188

होता है। अतः इस व्याख्या के अनुसार स्पष्ट है कि एंगेल्स लघुजाति के निर्माण का काल 9वीं सदी मानते हैं।

कोस्मिन्सकी ने मध्यकाल (अर्थात 4-5वीं सदी से 14-15वीं सदी) के बीच कभी लघुजाति के निर्माण की बात कही है। यह एंगेल्स के लघुजाति के निर्माण काल के नजदीक है। परंतु स्टालिन ने सिकंदर और सीजर के साम्राज्य को कबीलों और लघुजातियों का जमघट बताया था। इससे तो लघु जाति के उत्पत्ति की कहानी ईसा पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी चली जाती है। अब प्रश्न है कि यदि लघुजाति का निर्माण तीसरी-चौथी सदी में हुआ था तो फिर एंगेल्स ने जिस 9वीं शताब्दी में 'आधुनिक जाति' के निर्माण की बात कही है, क्या वह वास्तव में लघुजाति की निर्माण की बात है या आधुनिक जाति के निर्माण की। इसके अलावा लेनिन ने 17वीं शताब्दी में रूसी बाजारों के एकीकरण से आधुनिक रूसी जाति के निर्माण की बात कही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कम से कम 15-16वीं शताब्दी तक जरूर रूस में स्वतंत्र लघुजातियों का अस्तित्व रहा होगा। फिर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में मार्क्स ने जो कुछ भी लिखा है उससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि यूरोप में मध्यकाल या फिर उससे पहले ही लघु जातियों का निर्माण हो गया था। इस तरह स्पष्ट है कि लघुजाति के निर्माण के काल के संदर्भ में पश्चिमी मार्क्सवादी विचारकों में आपसी सहमती नहीं है। जहाँ तक भारतीय संदर्भ में लघुजाति का प्रश्न है तो उस पर मुख्य रुप से रामविलास शर्मा, मैनेजर पांडे और नामवर सिंह ने विचार किया है।

रामविलास शर्मा भारत में लघुजाति की उत्पत्ति का काल सातवीं शताब्दी से मानते हैं। उन्होंने लिखा है - "मथुरा पर नागों, शकों, हूणों, यूनानियों, तुर्कों आदि के आक्रमण हुए किंतु इनसे जनपद का अस्तित्व ख़त्म ना हुआ। वहाँ रक्त-संबंध पर आधारित कोई कबीला न रहता था; वह शूरसेन जाति का निवास था। उसकी अपनी भाषा और संस्कृति थी। अनेक बाह्यतत्त्व उसमें आकर मिलते रहे और ब्रज में बस कर ब्रज के हो गए। .....ब्रज को स्थाईत्व देने वाली शक्ति वह लघुजातीय संगठन था जिसमें वहाँ के निवासी बंधे हुए थे। सामंती व्यवस्था में प्राचीन जनपद की सीमाएं बहुत विस्तृत हो गई. अब मथुरा नगरी और उसके आसपास का प्रदेश ही ब्रजमंडल न था; इस मंडल में दूर-दूर के प्रदेश शामिल हुए। ई. 7वीं सदी में चीनी यात्री ह्वेनसांग यहाँ आया तब उन्होंने लिखा कि मथुरा राज्य का विस्तार लगभग 833मील था। इस वर्णन से पता चलता है कि सातवीं शती में मथुरा राज्य के अंतर्गत वर्तमान मथुरा-आगरा जिलों के अतिरिक्त आधुनिक भरतपुर और धौलपुर जिले और ऊपर से मध्य भारत का उत्तरी लगभग आधा भाग रहा होगा। यह कल्पना भ्रांत हो सकती है किंतु इतना निश्चित है कि 7वीं सदी में

शूरसेन जनपद की सीमाएं बुद्धपूर्व के जनपद से बहुत बड़ी थी। इस प्रकार प्राचीन जनपद सामंती व्यवस्था में निर्मित होने वाली लघुजाति का विस्तृत प्रदेश बना।"[22]

इस तरह यहाँ पर रामविलास शर्मा ने आधुनिक हिंदी-प्रदेश में प्रथम 'लघुजाति' – ब्रज जाति - के 7वीं शती में निर्माण होने की बात कही है। इसी प्रकार रामविलास शर्मा ने ब्रज के बाद मगध, अवध, कोसल, काशी, कुरु आदि जनपदों में इसी समय के आसपास लघुजाति के निर्माण की भी बात की कही है। फिर उन्होंने लिखा है कि – "आधुनिक ब्रज का निर्माण सामंती युग में हुआ; वह जन के बदले एक लघुजाति की निवास भूमि बना। वह लघुजाति घुल-मिलकर अब एक 'महाजाति(हिंदी जाति) का अंग बन गई है।"[23*]

अब यहाँ ध्यान देने वाली बात है कि आधुनिक ब्रज कब घुल-मिलकर और कैसे महाजाति(हिंदी जाति) का अंग बन गई. रामविलास शर्मा 'व्यापारिक पूँजीवाद' से 'जाति या महाजाति या हिंदी प्रदेश के संदर्भ में 'हिंदी जाति' के निर्माण - जिसमें ब्रज, अवध, काशी, कुरु, मिथिला(विदेह) आदि जनपदों की लघुजातियाँ मिल गई - की बात कहते हैं।

आरंभ में उन्होंने उत्तर भारत में व्यापारिक पूँजीवाद का आरंभ सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी से माना था – "16-17वीं सदी में उत्तर भारत के बिखरे हुए बाजार एक दूसरे से सम्बद्ध हुए। .....मुगल शासन के अंतर्गत आर्थिक और राजनीतिक दोनों रूप से वे परस्पर सम्बद्ध थे। इन बड़े नगरों में आसपास के देहातों से जुलाहों की बड़ी तादाद सिमट आती थी। रोजी रोटी की तलाश में अलग-अलग बोलियाँ बोलने वाले लोग इन शहरों में इकट्ठा होते थे। इनमें आसपास के व्यवहार के लिए किसी सामान्य भाषा की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को पूरा किया व्यापारी वर्ग से सम्बद्ध खड़ी बोली ने।"[24]

इसके अलावा भी अन्यत्र उन्होंने मुग़लकाल के बारे में लिखा है – "इस स्थिति के बाद की मंजिल यह है कि सौदागर स्वयं ही कारीगर को कच्चा माल देता है, और उससे तैयार माल ले जाता है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का यह श्रीगणेश है। सौदागर से कच्चा माल या रुपया उधार लेने के कारण कारीगर जो माल तैयार करता है, उसका मालिक वह स्वयं नहीं होता; सौदागर के प्रभुत्व के कारण उसका माल तैयार होने से पहले ही बिक चुका होता है। यह स्थिति अंग्रेजों

* इस विवरण से अप्रत्यक्ष रुप से एक बात और भी स्पष्ट होती है कि रामविलास शर्मा 7वीं शताब्दी से पहले से ही भारत में सामंतवाद का उदय और सामंती युग के आरंभ की बात स्वीकार करते हैं। यहां पर इस ओर इसलिए इशारा किया गया है ताकि बाद में अन्य संदर्भ में इसका उपयोग किया जा सके।

के आने से पहले हिंदुस्तान में भी थी। मुगल काल के बारे में मोरलैंड ने लिखा है - इस समय के व्यापारिक पत्र-व्यवहार में बुनकरों की स्थिति साफ दिखाई देती है। एक तरह से तो हरेक बुनकर केवल अपने लिए काम करता था। दूसरी अर्थ में वह पूंजीपति के हाथ में था जो कच्चा माल खरीदने और काम के करने की अवधी में परिवार का पेट पालने के लिए रुपया उधार देता था। सौदागरों द्वारा ही इस तरह पेशगी रुपया देने की क्रिया से सभी लोग परिचित हैं; इसलिए उस पर विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। डच और अंग्रेज खरीददारों ने यहाँ दृढ रूप से कायम पाया और इसलिए आवश्यक माल को पाने के लिए उन्हें भी उसी का अनुकरण करना पड़ा।"[25]

फिर रामविलास शर्मा फ्रांसिसी यात्री बर्नियर को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि लाहौर, आगरा, फतेहपुर, बुरहानपुर, कश्मीर आदि में अनेक कारखाने और उद्योग केंद्र कायम किए गए थे। इन स्थानों पर बड़े-बड़े हॉल होते थे। कारीगर उसमें काम करते थे। एक हाल में सुनार होता था, दूसरे में चित्रकार, तीसरे में रेशम, जड़ी का काम करने वाले, चौथे में लकड़ी बनाने वाले रंगसाज, पांचवें में बढ़ई, छठे में चमड़ा बनाने वाले आदि होते थे। इसी को रामविलास शर्मा ने प्रारंभिक पूँजीवादी उत्पादन की विशेषता माना है।[26] लेकिन वहीं पर साथ में यह भी लिखा है कि यह स्पष्ट नहीं है कि इन कारखानों में व्यापार के लिए उत्पादन होता था या केवल शाही घरानों के लोगों की जरूरत की चीजें तैयार की जाती थीं। अगर शाही जरूरतों के लिए इन कारखानों में उत्पादन होता था तब तो इसे व्यापारीक पूँजीवाद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। जिससे हिंदी जाति के निर्माण का काल और भी आगे बढ़ जाएगा। सत्य जो भी हो, परंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि मुगल काल में या उसके बाद ही भारत में 'व्यापारिक पूँजीवाद' का श्रीगणेश हुआ होगा। अतः उसके बाद ही हिंदी जाति के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ हुई होगी।

अब हम इस तथ्य की ओर भी ध्यान दें कि बर्नियर ने भारत की यात्रा करते समय किस समय यह बात कही थी। बर्नियर लगभग 1655 से 1670 ई. के बीच बारह वर्षों तक भारत की यात्रा पर था। इसलिए उन्होंने मुग़लकालीन भारत के विभिन्न शहरों के कारखानों का जो वर्णन किया है वह इसी के बीच के किसी समय का होगा। इससे पहले हम ऊपर दिखा आए हैं कि 16-17वीं शताब्दी से उत्तर भारत के बिखरे हुए बाजार को एक दूसरे से सम्बद्ध होने की बात रामविलास शर्मा कही है, और इन व्यापार केन्द्रों के व्यापारियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा को खड़ी बोली माना है। अतः स्पष्ट है कि कम से कम 16वीं शताब्दी के अंत तक तो

ब्रज आदि जनपदों में लघुजातियों और उनकी भाषाओँ का स्वतंत्र अस्तित्व जरूर रहा होगा। क्योंकि रामविलास शर्मा स्वयं ही यह मानते हैं कि व्यापारिक पूँजीवाद से पहले सामंतवादी युग में लघुजातियों का अस्तित्व होता है जिनकी अपनी-अपनी स्वतंत्र भाषा होती है – "सामंती व्यवस्था में लघुजातियों का निर्माण होता है महाजाति का नहीं। जब महाजाति का निर्माण ही नहीं हुआ तो उसके जातीय प्रदेश और जातीय राजसत्ता का सवाल नहीं उठता।"[27]

फिर रामविलास शर्मा ने आगे लिखा है – "पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की विशेषता यह है कि उसके अभ्युदय के साथ आधुनिक जातियाँ(नेशन) का निर्माण जुड़ा हुआ है। इन महाजातियों के निर्माण के पहले हम उनकी जातीय भाषाओं की कल्पना भी नहीं कर सकते। जातीय भाषाएँ किसी आर्थिक व्यवस्था का सांस्कृतिक प्रतिबिंब नहीं है। उनके भाषा-तत्वों का निर्माण आर्थिक आधार पर नहीं होता। बोलियों या किसी लघुजातियों की भाषाओं के रूप में उनका अस्तित्व पहले भी रहता है, किंतु महाजातियों की भाषा के रूप में उनका अस्तित्व पहले नहीं होता। उदाहरण के लिए दिल्ली या आगरा की जो बोली हिंदी-उर्दू के रूप में विकसित हुई, वह पहले एक छोटे से क्षेत्र में सीमित थी। जब वह अवध, बुंदेलखंड, भोजपुरी प्रदेशों की सम्मिलित भाषा बनी तब उसका क्षेत्र व्यापक हो गया, वह हमारी जातीय भाषा बनी। इस प्रकार की जातीय भाषाओँ का विकास पूँजीवादी संबंधों के कायम हुए बिना संभव नहीं होता।"[28]

अब तक की विवेचन से जो बातें स्पष्ट हुई है वे ये हैं – उत्तर भारत में व्यापारिक पूँजीवाद का आरंभ किसी भी तरह 17वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों से पहले नहीं हुआ होगा। इसलिए हिंदी जाति के निर्माण की प्रक्रिया भी इससे पहले शुरू नहीं हुई नहीं हुई होगी। जिससे स्पष्ट होता है कि 17वीं शताब्दी से पहले उत्तर भारत विभिन्न जनपदों वाली लघुजातियों में बँटा हुआ था जिसकी अपनी स्वतंत्र भाषाएँ थीं। इन लघुजातियों की भाषाओं के स्वतंत्र भाषा होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऊपर रामविलास शर्मा ने दिखाया है कि दिल्ली या आगरा की हिंदी-उर्दू जब अवध, बुंदेलखंड, भोजपुरी आदि प्रदेशों में फैली तभी उसका क्षेत्र व्यापक हो गया और तभी से वह हमारी जातीय भाषा बनी।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस तरह ब्रज, अवध, कोसल, काशी आदि को रामविलास शर्मा लघुजाति मानते हैं, उसी तरह वे ग्रेट-ब्रिटेन में लघुजाति का निर्माण हुआ बताते हैं। उनके अनुसार ब्रिटिश महाजाति के अंतर्गत स्कॉट, वेल्स आदि लघुजातियाँ हैं, जिसकी अपने अस्तित्व की चेतना अभी समाप्त नहीं हुई है। यहाँ नोट करें कि रामविलास शर्मा ने अंग्रेजी भाषा के एक इतिहास लेखक को उधृत करते लिखा है - "स्कॉट भाषा अंग्रेजी भाषा से इतनी भिन्न है

कि उसे दूसरी भाषा ही मानना चाहिए। जिन बोलियों से साहित्यिक और शिष्ट अंग्रेजी विकसित हुई, उन्हें छोड़कर और किन्ही भी बोलियों को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई जो स्कॉट को प्राप्त है। शताब्दीयों तक वह राजाओं और विद्वानों, कवियों और इतिहासकारों की भाषा रही; वह राजदरबार और शासन, चर्च और साहित्य की भाषा एक साथ रही है। स्कॉट भाषा में ही कवि बर्न्स ने अपनी भावपूर्ण कविताएं रचीं।"[29] यदि स्कॉट, वेल्स आदि को कोई स्वतंत्र भाषा कह सकता है, तो ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि भी हिंदी महाजाति के स्कॉट की तरह लघुजातियों की भाषाएँ होने के कारण और इन सबका भी 'शताब्दीयों तक राजाओं और विद्वानों, कवियों और इतिहासकारों की, राजदरबार और शासन, चर्च और साहित्य की भाषा एक साथ' रहने के कारण स्वतंत्र भाषाएँ क्यों नहीं कही जा सकती? इस विस्तार में न जाते हुए यहाँ पर मेरा उद्देश्य बस इतना दिखाना है कि खड़ीबोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी आदि लघुजातियों की भाषाएँ रामविलास शर्मा के 'जाति' के निर्माण के 'व्यापारिक पूँजीवाद' की अवधारणा अनुसार भी कम से कम 17वीं सदी के अंत स्वतंत्र भाषाएँ हैं।

रामविलास शर्मा ने आगे लिखते हैं - "केंट प्रदेश के इतिहास से पता चलता है कि किस प्रकार एक जनपद जन के बदले लघुजाति का निवास बनता है और फिर वह महाजाति के प्रदेश का अंग बनकर अपनी स्वतंत्र सत्ता खो देता है, उसकी भाषा बोली मात्र रह जाती है।"[30] रामविलास शर्मा के इस तर्क का दूरगामी महत्व है। इसके आधार पर ही संभवतः रामविलास शर्मा मानते हैं कि चुकि खड़ी बोली(हिंदी) का 'व्यापारिक पूँजीवाद' के कारण 17वीं शताब्दी के आरंभ से 'हिंदी प्रदेश' की जातीय भाषा के रूप में निर्माण होना आरंभ हो गया तो इसके परिणाम स्वरुप स्वाभाविक रूप से इस 'हिंदी प्रदेश' की दूसरी अन्य भाषाएँ - यथा ब्रज अवधी, भोजपुरी, मैथिली, बुंदेलखंडी आदि भाषा भी 'हिंदी जातीयता की अवधारणा' के परिपेक्ष्य में अपनी स्वतंत्र सत्ता को खोकर बोली मात्र रह जाती है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक परिस्थितियों के हिसाब से कोई बोली या भाषा जब तब कभी बोली, कभी भाषा नहीं हो सकती। इसके अलावा भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से बोली और भाषा में कोई तात्विक अंतर भी नहीं होता। इसलिए रामविलास शर्मा की यह मान्यता कि हिंदी जातीयता के निर्माण के बाद ब्रज आदि पूर्व की लघुजातियों की स्वतंत्र भाषाएँ अब अपनी सत्ता खोकर खड़ी बोली(हिंदी) की बोली मात्र रह गई है, को भाषा वैज्ञानिक आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु यदि अगर रामविलास शर्मा की इस मान्यता को भाषाविज्ञान से इतर की अन्य भाषिक और सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मान भी लिया जाए तो भी हिंदी जाति के निर्माण

के बाद के ही ब्रज आदि भाषाओं में लिखे गए साहित्य को हिंदी जाति का साहित्य माना जा सकता है। क्योंकि किसी भी अवधारणा, नियम, कानून आदि को 'रेत्रोस्पेकतिवली' नहीं लागू किया जा सकता है। अतः इससे हिंदी जाति के निर्माण के पहले लिखा गया ब्रज, अवधी, मैथिली, आदि भाषाओं में का साहित्य फिर भी हिंदी जाति की परिधि से बाहर छूट जाता जाएगा। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रज, अवधी, मैथिली आदि भाषाओं के साहित्य को दो भागों में बाँटना पड़ेगा। पहला, सामंती युग में लघुजाति की अवस्था में ब्रज आदि भाषाओं में लिखा गया साहित्य। दूसरा, हिंदी जाति के निर्माण के बाद अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर मात्र खड़ी बोली(हिंदी) भाषा की बोली रह जाने के बाद ब्रज आदि भाषाओं में लिखा गया साहित्य। यह बड़ी हास्यास्पद स्थिति होगी। इसके अलावा हिंदी जाति की अवधारणा के तर्क के आधार पर सिर्फ खड़ीबोली(हिंदी) में लिखे गए साहित्य को ही हिंदी के जातीय साहित्य के अंतर्गत माने जाने पर विचार किया जा सकता है। वैज्ञानिक और तार्किक रूप से तो उचित यही लगता है कि चुकी हिंदी जातीयता का प्रसार 'व्यापारिक पूजीवाद' के कारण खड़ीबोली(हिंदी) में ही हुआ इसीलिए सिर्फ खड़ीबोली(हिंदी) में लिखे गए साहित्य को ही हिंदी जाति का साहित्य माना जाए। जैसा कि हम देख आए हैं, शिवदान सिंह चौहान की भी हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष में यही मान्यता है। बहरहाल!

संभवत: रामविलास शर्मा को हिंदी जाति के निर्माण के आरंभ को 17वीं शताब्दी से मानने पर 'हिंदी जाति के साहित्य' के संदर्भ में इस तरह की असंगति पैदा हो जाने का अंदेशा रहा हो। इसलिए बाद के वर्षों में वे हिंदी जाति के निर्माण की प्रक्रिया का आरंभ 13-14वीं शताब्दी से मानने लगते हैं – "13-14वीं सदी में सामंती समाज का यह ढांचा ढीला पड़ने लगा था। वर्ण-व्यवस्था शिथिल हो रही थी और लोग अपने खानदानी पेशे छोड़कर नए पेशे अपनाने लगे थे। तुर्क बादशाहों ने बाजार, तौलने के बांट, सिक्कों आदि के बारे में जो सुधार किए, उनसे सौदागरों को फायदा पहुंचा। इस जमाने में नई नई मंडियाँ और नए नए शहर आबाद हुए।"[31]

फिर वे आगे लिखते हैं - "तुर्कों के आक्रमण के समय उत्तर भारत में व्यापार की अनेक मंडियाँ कायम थी। आक्रमणकारियों ने थानसेर, कन्नौज, अजमेर, दिल्ली, मेरठ, बयाना, कालिंजर, महोबा, अयोध्या आदि को लूटा और इससे यहाँ के व्यापार को काफी धक्का लगा। अपने ह्रास काल में भारत का सामंत वर्ग न तो अपनी रक्षा कर सका, न व्यापारियों और शेष जनता की।"[32] यदि तुर्कों के आक्रमण काल 12वीं सदी के बाद सामंत वर्ग अपनी रक्षा नहीं कर सका और ध्वस्त हो गया तो सामंत वर्ग के ध्वस्त होने के लगभग 250-300 वर्ष बाद हिंदी साहित्य में

भक्तिकाल का उदय होता है और 500 वर्ष बाद रीतिकाल का उदय होता है। भक्तिकालीन साहित्य सामंत विरोधी और रीतिकालीन साहित्य सामंतवादी माना जाता है। जब 12वीं शताब्दी में ही सामंत खत्म हो गए थे, खासकर उत्तर भारत के हिंदी प्रदेश से तो फिर इतने दिनों बाद इस तरह के साहित्य लिखे जाने की व्याख्या कैसे हो सकेगी। इसलिए यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है कि सामंती समाज का ढांचा ढीला पड़ा तो कितना?, वर्ण-व्यवस्था शिथिल हुई तो कितनी?, कितने लोगों ने खानदानी पेशे छोड़कर नए पेशे अपनाए?, इसके अलावा सिर्फ बाजार का होना 'व्यापारिक पूजीवाद' के आरंभ की निशानी नहीं है। बाज़ार, उत्पादन, वितरण, विनिमय तो लघुजतियों वाले सामंती युग के जनपदों में भी होता है। फिर रामविलास शर्मा ने स्वयं ही लिखा है कि इस जमाने में नयी नयी मंडियाँ और बाज़ार बनने आरंभ ही हुए थे तो फिर तुरंत ही व्यापारिक पूँजीवाद का आरंभ कैसे होगा। रामविलास शर्मा की अवधारणा के अनुसार ही - व्यापारिक पूँजीवाद के आरंभ के लिए सबसे महत्वपूर्ण शर्त है, उत्पादन केवल क्रय-विक्रय के लिए हो, जिसका उपयोगी मूल्य कम और विनिमय मूल्य अधिक हो। इसके लिए कच्चा माल या पेशगी दिया जाता था, तैयार माल पर किसान और कारीगर का स्वामित्व नहीं होता था। क्या पेशगी* देने की इस तरह की किसी परंपरा के प्रमाण 13-14वीं सदी में मिले हैं? अगर नहीं तो इस समय से व्यापारिक पूँजीवाद का आरंभ कैसे माना जा सकता है। इसके अलावा 12वीं सदी के बाद से उत्तर भारत पर विदेशी आक्रमणों का सिलसिला बहुत तेज़ होने लगता है। आक्रमणकारी धन की खोज में सबसे पहले बाजारों, खज़ानों, मंदिरों आदि को निशाना बनाते थे। इससे उस समय जो भी थोड़ा बहुत खाने-खरचने से बची हुई सामग्रियों का व्यापार, वितरण, विनिमय आदि होता था उसको भी बहुत धक्का लगता था।

इस सब के बावजूद यदि रामविलास शर्मा की बात मान भी ली जाए कि 13-14वीं शताब्दी से व्यापारिक पूँजीवाद आरंभ होता है, जिसके फलस्वरुप हिंदी जाति का आरंभ होता है तो भी समस्या रहेगी कि इस समय हिंदी जाति के निर्माण से किस 'जातीय' भाषा का निर्माण होता है। 17वीं शताब्दी के संदर्भ में तो स्पष्ट रुप से हम देख आए हैं कि खड़ीबोली(हिंदी) के रूप में किस तरह जातीय भाषा का विकास हुआ। परंतु 13-14वीं शताब्दी से हिंदी जाति का आरंभ

*यदि इस समय पेशगी किसानों और कारीगरों को दी भी जाती रही होगी तो अगर यह उनके विरुद्ध कैसे हुआ। इससे तो किसान और कारीगर की स्थिति ही मज़बूत होती है, क्योंकि वह जनता है कि माल तैयार करने के लिए उसे पहले ही एडवांस या न्यूनतम लगत मूल्य मिल गया है और तैयार माल का खरीददार भी तय है। इसलिए वह तो पेशगी की प्रथा से लाभ की स्थति में ही था। फिर पेशगी और कर्ज में अंतर है। कर्ज लेने-देने का प्रचलन बहुत बाद में महाजनी पूंजीवाद में आरंभ हुआ। कर्ज लेना और देना किसानों और कारीगरों के लिए कमजोर स्थिति में जाना था। पेशगी का महत्व इससे भी झलकता है कि आज हमारे देश में किसानों की यह स्थिति यह है कि उनके द्वारा उत्पादित की हुई वस्तुओं को खरीदने वाला कोई नहीं है।

मानने पर इस समय की किस भाषा को जातीय भाषा कहा जाएगा। पूरे हिंदी प्रदेश में इस समय बोली जाने वाली किसी एक भाषा के प्रमाण नहीं मिलते हैं, क्योंकि इस समय तक भाषिक रूप से आधुनिक हिंदी प्रदेश का एकीकरण नहीं हुआ था। कम से कम इस समय के साहित्य में तो एक भाषा के व्यव्हार के प्रमाण नहीं मिलता। 13-14वीं शताब्दी के आसपास ब्रज और अवधी के साथ-साथ पूर्व में मिथिला क्षेत्र में मैथिली साहित्य की भाषा थी। राजस्थानी में भी डिंगल और पिंगल में साहित्य लिखे जाने बंद नहीं हुए थे। इस तरह स्पष्ट है कि 13-14वीं शताब्दी में आधुनिक हिंदी प्रदेश में साहित्य के क्षेत्र में कोई एक जातीय भाषा नहीं थी, न ही किसी एक जातीय भाषा के विकास के आसार दिख रहे थे। न हीं इस पूरे आधुनिक हिंदी प्रदेश कोई एक भाषा समान्य व्यवहार में ही प्रयुक्त होती थी। इसके अलावा कार्ल मार्क्स ने 'एशियाटिक मोड ऑफ़ प्रोडक्शन' की धारणा के अंतर्गत कहा भी है कि इस समय का समाज एक दुसरे से कटा और स्थिर था। इसलिए बड़े पैमाने पर व्यापार और वितरण की ना तो गुंजाइश थी न ही आवश्यकता। यातायात और आपसी संपर्क के साधन की भी अच्छी सुविधा नहीं थी। इस तरह 13-14वीं शताब्दी से हिंदी जाति का आरंभ मानने पर हिंदी जाति के साहित्य के संदर्भ में और भी बहुत असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

पर यदि इतना सब के बावजूद भी रामविलास शर्मा के 13-14वीं शताब्दी से हिंदी जाति के निर्माण की अवधारणा को मान लिया जाए तो इसका एक अर्थ यह होगा कि 13-14वीं शताब्दी से ही हिंदी जाति और हिंदी साहित्य का आधुनिक काल आरंभ होता है। इस तरह 13वीं शताब्दी से हिंदी साहित्य का आधुनिक काल मानने की कालविभाजन संबंधी अपनी समस्याएं हैं, जिसकी विस्तार से चर्चा डॉ. मैनेजर पांडे ने 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' में की है। हम यहाँ उसके विस्तार में नहीं जाएँगे। बल्कि डॉ. मैनेजर पांडे द्वारा 12वीं सदी से व्यापारिक पूँजीवाद का आरंभ मानकर हिंदी जाति के निर्माण के संदर्भ में उठायी गयी दूसरी समस्या की ओर जो इशारा किया गया है, उस पर विचार करेंगे। मैनेजर पांडे लिखते हैं – "भारत में 12वीं सदी से आरंभ होने वाले पूँजीवाद का विकास सफल नहीं हुआ, बाद में अवरुद्ध होकर निष्फल हो गया। समाज का सामंती आधार और उससे निर्मित संस्कृतिक ढांचा एक बार कमजोर होने के बावजूद कायम रहा। यही कारण है कि भक्तिकाल के बाद रीतिकाल आया।"[33] इससे पहले वे लिखते हैं – "बारहवीं सदी से हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ मानने की धारणा के लिए सबसे बड़ी चुनौती रीतिकाल है। रीतिकाल के साहित्य का आधार और स्वरूप निसंदेह सामंती है, उसे सामंतविरोधी आधुनिक काल के अंतर्गत कैसे शामिल किया जा सकता है?

जैसे रीतिकाल का विकास का सामंती स्वरूप एक निर्विवाद सच्चाई है वैसे ही उसके लगभग 200 वर्षों का अस्तित्व भी हमारे साहित्य के इतिहास का अकाट्य सत्य है। भक्तिकाल के बाद रीतिकाल का आगमन हिंदी साहित्य के इतिहास की एक ट्रेजेडी है, लेकिन यह एक एतिहासिक सच्चाई है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में इसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। रामविलास शर्मा ने हिंदी जाति, हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य विकास की जो व्याख्या की है उससे रीतिकाल के अस्तित्व की पूरी व्याख्या नहीं होती है। रीतिकाल 12वीं सदी से आधुनिक काल मानने की धारणा के सामने प्रश्न चिन्ह बना हुआ है। रामविलास शर्मा के विचारों के आधार पर हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के आरंभ की समस्या पर एक दूसरे ढंग से विचार किया जा सकता है। वह मानते हैं कि सौदागरी पूँजीवाद, जाति, जातीय भाषा और जातीय साहित्य के विकास की आरंभिक अवस्था सामंती व्यवस्था के गर्भ में पूरी होती है और मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरु होने पर ही औद्योगिक पूँजीवाद का विकास होता है। क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता की औद्योगिक पूँजीवाद के विकास के साथ ही नए उत्पादनसंबंध, समाजव्यवस्था, नई वर्गव्यवस्था और नई अधिरचना के विभिन्न तंत्रों तथा तत्वों का विकास होता है? क्या इससे यह भी निष्कर्ष नहीं निकलता कि औद्योगिक पूँजीवाद के साथ ही संस्कृति, कला और साहित्य के इतिहास का आधुनिक काल आरंभ होता है? हिंदी साहित्य इतिहास में इस तरह का आधुनिक काल 19वीं सदी से शुरू होता है। हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के आरंभ और जातीय भाषा के रूप में खड़ीबोली के विकास में भारतीय नवजागरण, हिंदी नवजागरण तथा स्वाधीनता आंदोलन की निर्णायक भूमिका है।"[34] इस तरह से हम देखते हैं कि 12वीं-13वीं शताब्दी से हिंदी जाति का निर्माण और हिंदी साहित्य के आधुनिक काल मानने से कितनी अधिक समस्याएं और असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

हमने इस अध्याय के आरंभ में ऊपर कहा है कि रामविलास शर्मा हिंदी भाषा के मूल-तत्व का 'आदिम साम्यवादी व्यवस्था' में भी मौजूद होना मानते हैं और इस संदर्भ में उन्होंने स्टालिन को उधृत भी किया है, जिसकी भी चर्चा हमने ऊपर की है। उनकी इस मान्यता के पीछे स्टॅलिन के अलावा एक दूसरा कारण भी है।

वह यह कि वे ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के इस सिद्धांत को नहीं मानते हैं कि प्राचीन भाषाओं से मध्यकालीन और मध्यकालीन भाषाओं से आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इस तरह वे संस्कृत से पाली, पाली से प्राकृत और प्राकृत से आधुनिक भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति के सिद्धांत को नकारते हैं। उनका मानना है कि जितनी भी भाषा आज के समय वर्तमान और

प्रचलित है, वे सभी भाषाएँ अपने मूल रूप में किसी-न-किसी कबीले या जन की भाषा कभी-न-कभी जरूर रही होगी। यही कारण है कि हिंदी के भी मूल तत्व का स्रोत वे किसी जन या कबीलाई समुदाय की भाषा में ढूंढते हैं। इसके पीछे मार्क्सवाद की यह मान्यता भी कार्य कर रही है कि पूँजीवाद में किसी भाषा का निर्माण या रचना नहीं होती बल्कि विकास होता है। इसलिए रामविलास शर्मा भी हिंदी के कबीलाई रूप से लेकर अब तक के विकास और विभिन्न रूपों अवस्थाओं को तो स्वीकारते हैं परंतु हिंदी का अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह अपभ्रंश की अंतिम अवस्था से उत्पत्ति नहीं मानते हैं। परंतु रामविलास शर्मा की इस अवधारणा को मानने का अर्थ यह होगा कि जितनी भी भाषाएँ आज हैं, कम-से-कम उन सबके मूल रूप का अस्तित्व कबीलाई युग में भी हो। परंतु यह बात व्यवहारिक रुप से सत्य प्रतीत नहीं होती। यह तो लगभग सर्व-स्वीकार्य मान्यता है कि मनुष्य जाति का विकास दुनिया के कुछ किसी खास 4-5 स्थानों से ही हुआ है। इसके अलावा मनुष्य जाति के विकास के आरंभ में इतने अधिक जन और कबीलाई समाज तो निश्चित रुप से नहीं होंगे जितनी अधिक भाषा और बोलियाँ आज के युग में वर्तमान है। स्वभाविक तो यही लगता है कि मनुष्य जाति के विकास के आरंभ में बहुत थोड़ी जन-जातियाँ या कबीलाई समाज रहा होगा। फिर धीरे धीरे जनसंख्या बढ़ने के साथ वह समाज एक दूसरे से अलग होकर नए इलाकों, क्षेत्रों और दूर देशों में क्रमशः जनसंख्या के बढ़ने से फैलते गए होंगे और इस तरह से उन सबका एक दुसरे से आपसी अलगाव सैकड़ों-हज़ारों वर्षो के बाद इतना अधिक बढ़ गया होगा कि वे एक दुसरे से भिन्न भाषा बोलने लगे होंगे। इस तरह से तो भाषाओं की उत्पत्ति, विकास, निर्माण आदि के संदर्भ में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की मान्यता ही अधिक तार्किक प्रतीत होती है। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा के बारे में भाषाविज्ञान के आधिकारिक विद्वानों की सम्मति जानना अप्रसांगिक न होगा – "डॉ. रामविलास शर्मा को मार्क्सवादी मान लिया गया। इसीलिए उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग को छोड़कर आगरा के कॉलेज में जाना पड़ा। उनकी ख्याति मार्क्सवादी लेखक के रूप में अधिक हुई. इसका प्रभाव उनके भाषा विज्ञान पर किए गए कार्य पर भी रहा है। मार्क्सवादी आलोचक भाषाविज्ञान का उत्तम कार्य कर सकता है, ऐसा सोचना कठिन लगता है। भाषा विज्ञान पर लिखी गई प्रथम क्रांतिकारी पुस्तकें इस बात को प्रमाणित करती हैं।"[35]

इस प्रकार अबतक हमने इस विवेचन में रामविलास शर्मा की अलग-अलग समय में अलग-अलग तर्कों को आधार बनाते हुए हिंदी भाषा और जाति के उत्पत्ति काल को 17वीं शताब्दी

से आरंभ करके आदिम साम्यवादी व्यवस्था तक ले जाने की आलोचनात्मक व्याख्या की। इस पूरे विवेचन के निष्कर्ष के रूप में जो बातें कही जा सकती है वह यह है कि रामविलास शर्मा की हिंदी जाति की अवधारणा से 17-18वीं शताब्दी के बाद व्यापारिक पूँजीवाद के कारण हिंदी जाति के निर्माण की अवधारणा को आधार बनाते हुए खड़ीबोली(हिंदी) के साहित्य की व्याख्या तो की जा सकती है परंतु पारंपरिक रुप से हिंदी साहित्य का अंग माने जाने वाली ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि साहित्य की व्याख्या नहीं हो सकती। दूसरा निष्कर्ष यह है कि खड़ीबोली(हिंदी) के साहित्य की भी सम्यक रूप से व्याख्या करने के लिए (अर्थात भारतेंदु युग को नवजागरण काल मानने के लिए) रामविलास शर्मा की जाति के निर्माण की 'व्यापारिक पूँजीवादी' अवधारणा में कुछ बदलाव की आवश्यकता होगी। तीसरा निष्कर्ष यह है कि बेहतर तो यही होगा कि रामविलास शर्मा की हिंदी जाति की अवधारणा - जोकि मूल रूप से समाज और जीवन के सिर्फ एक पक्ष (अर्थ) को केंद्र में रखकर निर्मित की गई है - के आधार पर या इसके सहारे 'हिंदी भाषा और साहित्य' के विकास को विवेचित और व्याख्यायित करने की कोशिश ना ही हो। रामविलास शर्मा ने भी लिखा है - "जिन तत्वों से जन का निर्माण होता है। उन्हीं से सामंतयुगीन लघुजाति का और पूँजीवादी महाजाति का निर्माण होता है। किंतु इन तत्वों के गुण और परिमाण में अंतर होता है। इसलिए जन, लघुजाति और महाजाति में भी गुणात्मक अंतर है। जन के आर्थिक जीवन का आधार सामूहिक या कुलगत उत्पादन और संपत्ति है। लघुजाति का आर्थिक जीवन नए श्रम-विभाजन के आधार पर बनता है जिसका स्पष्ट चिन्ह है वर्ण-व्यवस्था। महाजाति का आर्थिक जीवन वितरण और उत्पादन के नए पूजीवादी संबंधों पर निर्भर होता है और उसमें वर्ण-व्यवस्था विसृन्ख्ल होकर नए वर्गों को स्थान देती है। जन से महाजाति तक की परिवर्तन की धूरी आर्थिक जीवन है। इसी से जन संगठित होकर संघ बनाते हैं, विभिन्न जनपद सिमटकर लघुजाति का विस्तृत प्रदेश बनते हैं, भिन्न बोलियाँ बोलने वाले एक दूसरे के निकट आते हैं; बोलियों के बीच व्यापक व्यवहार के लिए 'भाषाओं' का उदय होता है। सभी परिस्थितियों में आर्थिक जीवन की नियामक भूमिका रहे, यह आवश्यक नहीं है।"[36]

इसके अलावा मेरे इस निष्कर्ष के समर्थन में मूल रुप से यह बात कही जा सकती है कि - यह सही है कि साहित्य समाज से बाहर नहीं होता, साहित्य में समाज की गहरी अभिव्यक्ति होती है और जिस समाज की अभिव्यक्ति होती है, उस समाज का बहुत कुछ भविष्य, व्यवहार, चरित्र आदि समाज की आर्थिक संबंधों के आधार पर तय होता है, फिर भी अंतिम रूप से मेरी

मान्यता यह है कि हिंदी या किसी भी भाषा और साहित्य के निर्माण और विकास के सूत्र की खोज के लिए 'जाति की अवधारणा' जैसी विशुद्ध अर्थ को केंद्र में रखकर बनाई गई दृष्टि अधिक कारगर नहीं हो सकती। क्योंकि किसी भी भाषा या साहित्य के विकास में इन आर्थिक कारणों के अलावा बहुतेरे दूसरे सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक और अन्य भी विविध प्रकार के कारणों के महत्व, प्रभाव और योगदान को नजरअंदाज़ नहीं किया जा सकता। इसलिए भाषा और साहित्य के निर्माण और विकास को पूरी समग्रता में समझने के लिए जाति की अवधारणा नाकाफी है।

'भाषा और समाज' के एक संदर्भ से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है – "राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण के अंतर्गत जिस प्रदेश के भी लोग आ जायें, वे महाजाति का अंग बन जायेंगे यह आवश्यक नहीं है। चाहे व्यापार द्वारा पूँजीवादी संबंध फैले, चाहे औद्योगिक क्रांति बाजार को सुदृढ़ एकीकरण करे, चाहे राज्यसत्ता निरंकुश शासन द्वारा किसी जाति की भाषा को शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र से निकाल दे, उस जाति के लोग यदि अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा करने पर तुल जायें और इसके लिए निरंतर संघर्ष करें तो अपनी जातीयता की रक्षा कर सकते हैं। जातिय निर्माण के कोई अखंड, अविच्छेद भौतिक शास्त्र के नियम नहीं हैं। इस बात को किसी अखंड नियम से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजों से भिन्न कुल वाली वेल्श और स्कॉट भाषाएँ बोलने वाले जनों का ब्रिटिश जाति में विलियन तो अनिवार्य था, लेकिन एक ही कुल की ऊक्रैनी भाषा बोलने वाले जनों का रुसी जाति में विलियन अनिवार्य नहीं था।"[37] रूसी और यूक्रेनी का जो संबंध है - उदाहरण के लिए दोनों एक ही कुल की भाषाएँ हैं, दोनों ही जातियाँ अपने स्लाव समझती हैं - वही संबंध खड़ी बोली का ब्रज, अवधी, भोजपुरी मैथिली आदि भाषाओं से है। वेल्स और स्कॉट को ब्रिटिश जाति में मिला लिया गया लेकिन ऊक्रैनी रूसी जाति में नहीं मिलाया जा सका। इसके अलावा मार्क्स और एंगेल्स का विचार था कि जिस तरह वेल्श जन ब्रिटिश जाति का अंग बन गए हैं, उसी तरह स्लाव और मग्यार जातियों का अलगाव भी खत्म हो जाएगा और वह जर्मन भाषा और संस्कृति को अपना लेंगे।[38] परंतु ऐसा नहीं हुआ।

संभवत: इसलिए नामवर सिंह ने भी जातीयता की अवधारणा की आलोचना की है। इस आलोचना संबंधी उनके कुछ विचारों को यहाँ देख लेना अप्रसांगिक नहीं होगा।

नामवर सिंह ने लेनिन और बोल्शेविक पार्टी द्वारा सोवियत संघ के गठन की प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है – "बड़ी मुश्किल से लेनिन ने अनेक जातीयताओं के बहुजातीय एक

महासंघ के रूप में समाजवादी संघ यूनियन की स्थापना की थी और समझा गया था कि जातीयता की समस्या हल हो गयी।"[39] परंतु इसका परिणाम क्या हुआ सोवियत संघ का विघटन हो गया। फिर ये मानते हैं कि – "आमतौर से होता है कि जातीयता और राष्ट्रीयता के निर्माण में तथ्यों से ज्यादा नियामक भूमिकाएं मिथक, कल्पनाएं और इतिहास का एक विशेष प्रकार का पुनर्लेखन हुआ करता है।"[40] इसके अलावा नामवर सिंह मानते हैं कि वर्तमान समय में जिन सात राज्यों में हिंदी मुख्य भाषा है, उनमें समानता से अधिक असमानता है। वे आगे कहते हैं – "समाज के गठन के लिए भाषा को बहुत मजबूत आधार नहीं है। उन्होनें लिखा है – "जो भाषाई आधार है, जो खूंटा है, बहुत डगमगाता हुआ है, बहुत मजबूत खूंटा नहीं है। लोकमानस की बोलियाँ रेसिस्ट करेंगी और बोलियों के दबाव क्षेत्रीय अस्मिताओं को ज्यादा आधार देंगे।"[41] फिर लिखते हैं – "जो थोड़ा बहुत मार्क्सवाद मैंने पढ़ा है, उसके अनुसार इसे मेटाफिजिक्स कहते हैं। यह मेटाफिजिकल थिंकिंग कि हर चीज को आप रिड्यूस करें, रिडक्शन करें। संपूर्ण भाषाओं को खल में डालकर बोलियों को कूट-पीसकर करके और उसमें से हिंदी तत्त्व निकालें और उसका एक मूर्त रूप हिंदी जाति करें, मैं समझता हूँ कि हर तरह के चिंतन के विरुद्ध है। हिंदी साहित्य की पूरी परंपरा ऐसी मेटाफिजिक्स की नहीं है।"[42] परंतु ऐसा नहीं है कि सिर्फ नामवर सिंह ने ही जातीयता की अवधारणा पर सवाल खड़े किए हो। इसलिए अब हम जातीयता से सम्बंधित कुछ अन्य सवालों पर संक्षिप्त रूप से यहाँ विचार करेंगे।

'एथनिसिटी' 'कल्चर' 'नेशन' सभी आपस में अन्योन्याश्रय रूप से जुड़े हैं। वास्तव में हिंदी जाति के लोग 'एथनिक', सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से अलग-अलग लोग हैं। ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे' में मैथिल, भोजपुरिया और मागधी बिहारियों की अलग-अलग प्रवृतियों और रुझानों के बारे में विस्तार से लिखा है। नामवर सिंह कहते हैं - "विदेशी पत्रिकाओं में देखें। जितने ज्यादा लेख अलग-अलग मैं तो साहित्य के पत्रिकाओं में देखता हूँ एथनिसिटी, जेंडर, रिलीजन, रिलीजियस एक्सप्रिएंस पर आए हैं, उतने और किसी विषय पर नहीं।"[43] मैथिल, भोजपुरिया, मागधी, पहाड़ी, बुंदेली, अवधी, ब्रजी, राजस्थानी आदि सभी जातियों का अपना एक 'जातीय चरित्र और जातीय पहचान' है। परंतु हिंदी प्रदेश का जातीय चरित्र और जातीय पहचान क्या है? इसके अलावा हिंदी जातीयता की अवधारणा से इस क्षेत्र के लोगों की संस्कृतियों, परंपराओं आदि में कुछ आतंरिक अंतर्विरोध और मतभेद भी हैं। उसकी व्याख्या हिंदी जातीयता की अवधारणा कैसे कर सकेगी? इन अंतर्विरोधों में हिंदी-उर्दू का सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनितिक, धार्मिक आदि अंतर्विरोध सबसे अधिक मुखर है। इसके अलावा

जातीयता की अवधारणा की एक बड़ी समस्या है व्यक्तिगत जातीयता की। उदाहरण के लिए - मैं भारतीय हूँ, बिहारी हूँ और मैथिल भी। परंतु फिर भी यह संभव है कि मेरे लिए किसी मैथिल से ज्यादा किसी मलयालम या बंगाली से अपने आप को अधिक जोड़ना अधिक स्वाभाविक और सहज हो। इसी तरह बिहारी होने के बावजूद संभव है कि मैं स्वयं को दिल्लीवासियों के जैसा अधिक समझूँ। फिर इसी तरह भारतीय होने के बावजूद संभव है कि मैं अपने आप को चीनी या अमेरिकी अधिक मानूं।

जातीयता की अवधारणा के साथ एक दूसरी समस्या यह है कि यदि हम पूरे उत्तर भारत के हिंदी प्रदेश को एक जाति माने फिर भी यहाँ के लोगों की मातृभाषा अलग-अलग ही रहेगी और यह सर्वविदित है कि किसी की मातृभाषा का उसके पूरे व्यक्तित्व, सोचने का ढंग, ज्ञान, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार आदि पर अत्यंत ही गहरा असर डालती है। इस तरह से हिंदी प्रदेश के लोगों की मातृभाषाओं के अलग होने के कारण उनकी जातीयता ही अलग हो जाएगी। इसके अलावा सामान्य बोलचाल में भारत में यह बात प्रचारित ही है कि गोरे अंग्रेज चले गए और काले अंग्रेज छोड़ गए। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस व्यक्ति के बारे में यह बात कही गई है वह भारतीय होते हुए भी अंग्रेज जाति का अंग माना जाता है। दूसरी प्रसिद्ध कहावत है - अंग्रेज बन गए हो क्या? अंग्रेज हो क्या?

इसके अलावा यह विचारणीय है कि जब हम किसी हिंदी प्रदेश के निवासी से मिलते हैं तो वह यह कहता है कि वह हिंदी-प्रदेशी है। इसके बजाय यही कहा जाता है कि मैं बिहारी हूँ या मैथिल, भोजपुरिया, अवधिया, ब्रजी, राजस्थानी, उत्तराखंडी, हिमाचली, पहाड़ी आदि हूँ। इस अर्थ में चुकी हमारी कोई सम्मलित जातीय पहचान हम खुद ही स्वीकार नहीं करते, हिंदी प्रदेश एक जातीय प्रदेश नहीं कहा जा सकता। परंतु यदि हम किसी बंगाली, गुजराती, तमिल, मलयालम, तेलुगू, मराठी, उड़िया आदि भाषी व्यक्ति से मिलते हैं तो वह स्पष्ट रूप से अपने को अपनी भाषिक जातीयता से जोड़ता है। इसलिए भी हिंदी जातीयता को एक काल्पनिक अवधारणा कहा जा सकता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मिथिला, उतराखंड, झारखंड आदि अलग राज्य बनाने के लिए आंदोलन तो हुए परंतु हिंदी प्रदेश को एक करके हिंदी जातीयता को स्थापित करने के आंदोलन क्या कभी हुए?

जातीयता की अवधारणा की भारत की वर्ण-व्यवस्था से तुलना की जा सकती है। वर्ण व्यवस्था में जन्म के आधार पर ही जिस तरह चाहे अनचाहे रूप से जाति और समाज-जीवन की अन्य परिस्थितियाँ तय हो जाती है, वैसे ही 'टेरिटरी' आधरित जातीयता की अवधारणा में भी

सबकुछ जन्म लेने के स्थान से अनैच्छिक रूप से तय होता है। चाहे हम अपने आप को उस जातीयता से जोड़ पाते हो या न पाते हो। साहित्य में तो यह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि किसी जाति का साहित्यकार जरुरी नहीं है कि अपने आप को उसी जाति का माने। और यदि वह अपने आप को उस जाति का नहीं मानता है तब उसके द्वारा लिखित साहित्य किस जाति का साहित्य माना जायेगा। दुनिया भर में हरेक समय में ऐसे विद्वानों, साहित्यकारों और कलाकारों की कभी कमी नहीं रही, जिन्होंने अपने से ज्यादा दूसरे धर्म, संस्कृति, देश, जातीयता के नजदीक स्वयं को पाया है। उदाहरण के लिए, भारत में ही मुसलमान राम और कृष्ण भक्तों द्वारा लिखा गया साहित्य क्या मुसलमान जाति या हिंदू जाति का लिखा साहित्य माना जायेगा। उदाहरण के लिए - भक्तिकाल की किसी महिला कवियित्री ने भगवान कृष्ण के लिए कुछ इस तरह लिखा है- 'नंद के लाल कुर्बान तोहरे सूरत पे, हौं तो मुसलमानी हिंदूआनी ही रहूंगी मैं'। इस तरह जो कवि स्वयं ही जन्म से प्राप्त जातीयता का त्याग कर चुका है तो उसके साहित्य को कैसे जातीय का सहित्य माना जायेगा। क्या जातीयता की परंपरागत अवधारणा से इसकी सम्यक व्याख्या हो सकती है। इसी तरह यदि कोई चीनी साहित्यकार अपने को हिंदू, बौद्ध आदि भारतीय परंपरा और संस्कृति का अंग मानते हुए चीनी भाषा में ही वहाँ के ही जीवन और समाज के बारे में साहित्य लिखे तो क्या वह चीनी साहित्य कहलाएगा या भारतीय साहित्य।

फिर उदाहरण के लिए - अमेरिका या यूरोप में रहने वाले भारतीय जो वहाँ के नागरिक भी हैं, अपने आप को फिर भी भारत के अधिक करीब पाते हैं। उसी तरह भारतवर्ष में जन्म लेने वाले कुछ मुसलमान भाई स्वयं को सऊदीअरब, ईरान या पाकिस्तान के नजदीक अधिक पाता है। इस तरह 'भौगोलिक प्रदेश(टेरिटरी)' को केंद्र में रखकर 'व्यापारिक पूँजीवाद' को आधार बनाते हुए आर्थिक दृष्टि से जातीयता की अवधारणा की व्याख्या एकांगी हो जाती है। जातीयता की अवधारणा में अनैच्छिक के साथ साथ स्वैच्छिक के लिए भी जगह होनी चाहिए। इस दोनों में अंतर की पहचान भी करनी चाहिए। इसके बिना सम्यक रूप से जातीयता की अवधारणा के सिद्धांत नहीं बनाए जा सकते न हीं उस आधार पर किसी जातीय समुदाय, संस्कृति, साहित्य आदि की समग्रता में सम्यक व्याख्या ही की जा सकती है। क्या जातीयता की अवधारणा इन सवालों का कोई सैधांतिक और व्यवहारिक हल कभी भविष्य में देगी?

क्या ये सब बातें इस ओर इशारा नहीं करती कि हिंदी जातीयता अस्तित्व सिर्फ कल्पनाओं, किताबों, धारणाओं और सिद्धांतों में है। ये सभी संकेत निश्चित रूप से इशारा करते हैं कि हिंदी जातीयता की अवधारणा बहुत वैज्ञानिक नहीं है। वास्तव में एथनिक या सांस्कृतिक एकता का

किसी भी जातीयता की अवधारणा में व्यापक भूमिका रहती है। इसके बिना जातीयता की अवधारणा की कल्पना कठिन है। चुकी मार्क्सवादी जातीयता की पूरी अवधारणा ही रक्त संबंधों के खत्म होने पर आधारित है, इसलिए स्वभाविक रूप से इसमें सांस्कृतिक अंतर्विरोध आ जाते हैं।

परंतु इन सब असंगतियों के बावजूद हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जातीयता की अवधारणा जैसी भी हो मनुष्य और समाज को - कम-से-कम अभी तक की परिस्थतियों को देखने से तो यही लगता है कि - इसकी आवश्यकता है। एक दैनिक जरूरत है। इससे सुरक्षा, 'सेंस ऑफ बिलान्गिंग', एक-दूसरे से नजदीकी, अपनापन, परस्पर विकास, सामूहिक पहचान, सामूहिक सोच, सामूहिक नैतिकता, सामूहिक धर्म-परंपरा-संस्कृति आदि का भावबोध होता है तथा किसी दूसरी जाति, समाज, संस्कृति आदि से अपनी भिन्नता को देखने और समझने की दृष्टि मिलती है। इसलिए जातीयता की तो हमें आवश्यकता है परंतु इसके साथ ही इस अवधारणा के सिद्धांतीकरण में तमाम बारीकियों और विभिन्न पक्षों का ध्यान रखना पड़ेगा।

जातीयता के इन्हीं तमाम बारीकियों और विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखते हुए और ऊपर किए गए विस्तृत विवेचन के आलोक में खड़ीबोली(हिंदी) का संपर्क भाषा और साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचार-प्रसार और प्रयोग के साथ ही हिंदी जाति के निर्माण के आरंभ की बात करना अधिक तार्किक और व्यवहारिक दिख पड़ता है। मध्यकाल या प्राचीन काल में इसके निर्माण के सूत्र तलाशना उचित प्रतीत नहीं होता।

इस तरह जातीयता के अवधारणा के आधार पर शिवदान सिंह चौहान यह धारणा अधिक तर्कसंगत और व्यवहारिक मालूम पड़ती है कि हिंदी भाषा का जो भी साहित्य है, वह आधुनिक कालीन है और वह मात्र खड़ीबोली(हिंदी) का साहित्य है।

अब तक हमने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में 'जातीयता की अवधारणा' के आधार पर 'भाषा के सवाल' पर विचार किया। अब हम हिंदी साहित्य इतिहास लेखन में 'भाषा के ही सवाल' पर दूसरे अन्य प्रचलित पारंपरिक दृष्टियों से विचार करेंगे।

3.3 हिंदी साहित्येतिहास में भाषा का सवाल और अन्य दृष्टियाँ

पारंपरिक रुप से भाषा का सवाल और हिंदी साहित्य इतिहास लेखन में मुख्य रूप से जो सवाल हैं वह यह कि - खड़ीबोली(हिंदी) से पहले बिहार से लेकर राजस्थान तक विशाल हिंदी प्रदेश में लिखे गए साहित्य को हिंदी का साहित्य माना जाए या नहीं। खड़ी बोली से पहले के साहित्य को हिंदी भाषा का साहित्य मानने के पक्ष में मुख्य रुप से दो तर्क दिए जाते हैं। पहला भाषा वैज्ञानिक तर्क - इसके अनुसार यह बताया जाता है कि क्योंकि हिंदी प्रदेश की सभी आधुनिक भाषाओं और बोलियाँ का विकास अपभ्रंश की अंतिम अवस्था से हुआ है, इसलिए हिंदी प्रदेश की सभी भाषा और बोलियाँ आपस में एक जैसी है और आपस में बोली समझी जाती हैं। इसलिए इन सभी भाषाओं और बोलियों के के साहित्य को हिंदी साहित्य के अंतर्गत ही माना जाना चाहिए।

दूसरा सामाजिक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तर्क है - इसके अनुसार इस पूरे हिंदी प्रदेश में प्राचीन काल से ही सामाजिक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक एकता रही है और लोगों का आपसी संपर्क लगातार बना रहा है इसलिए और अभी के जो हिंदी भाषी लोग हैं उनके पूर्वजों ने सैकड़ों साल से जिस भाषा में साहित्य लिखा उसको अब आधुनिक काल में हिंदी भाषा के साहित्य से कैसे अलग किया जा सकता है। यह दोनों ही अत्यंत महत्वपूर्ण और मजबूत तर्क हैं। इन दोनों तर्कों के पक्ष और विपक्ष में अभी तक हिंदी साहित्य जगत में इतना अधिक लिखा जा चुका है कि यहाँ उसे बस दुहराया ही जा सकता है। परंतु समय बदलता रहता है इसलिए जो तर्क इन दोनों तर्कों के पक्ष में दिए गए थे हो सकता है समय के साथ उसकी महत्ता कम हो या बढ़ जाए। फिर कुछ नए तथ्य और नयी परिस्थितियाँ इनके पक्ष और विपक्ष में नए तर्क और निष्कर्ष लेकर आती हैं। इसीलिए अति संक्षिप्त रूप से फिर से अबकी बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार एक बार विचार कर लेना आवश्यक है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में भाषा संबंधी मुख्य रूप से तीन सवाल हैं। पहला, आदिकाल के साहित्य इतिहास लेखन में अपभ्रंश या परवर्ती अपभ्रंश और आधुनिक देश भाषाओं के बीच अंतर का सवाल। इसके अंतर्गत मुख्य रुप से इस पर विचार किया गया है कि किस काल, किस रचना, किस कवि से आधुनिक भारतीय भाषा के रूप में हिंदी के आरंभ को निर्धारित किया जाए। दूसरा सवाल, खड़ीबोली(हिंदी) और उससे पहले के साहित्य को एक साथ रखकर हिंदी भाषा का साहित्य मानने को लेकर है। तीसरा सवाल, हिंदी और हिंदुस्तानी या उर्दू या दक्षिणी या रेख्ता आदि के बीच संबंध को लेकर है।

अपभ्रंश या परवर्ती अपभ्रंश को आधुनिक भारतीय भाषा हिंदी से अलग भाषा मानने के लिए या फिर कहें कि हिंदी को अपभ्रंश से अलगाने के लिए हिंदी साहित्य के इतिहास, आलोचना और भाषावैज्ञानिक ग्रंथों में बहुतेरे भाषावैज्ञानिक तर्क देकर अलग कर दिया गया है। ठीक उसी तरह हिंदी और उर्दू या फिर रेख्ता या दक्खिनी के संदर्भ में भी हिंदी को इन भाषाओं से अलग दिखाने के लिए भाषाविज्ञान का सहारा लिया गया है, यह सही भी है क्योंकि कोई भाषा किसी भाषा से कितनी अलग और कितनी नजदीक है इसे तो वैज्ञानिक रूप से भाषा विज्ञान के माध्यम से ही समझा जा सकता है। परंतु जब हिंदी खड़ीबोली(हिंदी), ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी आदि भाषाओं का प्रश्न आता है तो तमाम भाषावैज्ञानिक तर्कों को किनारे में रखते हुए इन सभी भाषाओं को एक ही भाषा और एक या फिर एक ही भाषा की अलग-अलग बोलियाँ माना जाता है, जबकि भाषावैज्ञानिक तर्क बड़े स्पष्ट रुप से यह निर्देशित करते हैं कि मूल रूप से खड़ीबोली(हिंदी), ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि अलग-अलग भाषाएँ हैं। भाषाविज्ञान के ग्रंथों में इसका विशद विवेचन हुआ है। हम यहाँ उसके विस्तार में नहीं जाएँगे। परंतु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जिस तरह से हिंदी को अपभ्रंश या उर्दू से अलग करने के लिए भाषा वैज्ञानिक तर्क का सहारा लिया गया और उस भाषा वैज्ञानिक तर्कों को मान्यता दी गई उसी तरीके से हिंदी को अन्य भाषाओं तथा ब्रज अवधी मैथिली आदि से भी अलग मानने के लिए उन भाषावैज्ञानिक तर्कों का को मान्यता दी जानी चाहिए, परंतु व्यवहार में ऐसा नहीं हुआ। इस संदर्भ में इस ओर इशारा करना भी आवश्यक है कि जिस मैथिली, भोजपुरी, मगधी आदि को हिंदी भाषा का अंग माना जाता है उसकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से हुई जबकि अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी की उत्पत्ति अर्धमागधी अपभ्रंश से हुई है। उसी तरह खड़ीबोली, ब्रजभाषा, बुंदेली, हरियाणवी आदि की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। इस तरह से हम देखते हैं कि जिन भाषाओं को सामूहिक रुप से हिंदी प्रदेश की भाषा कहा जाता है, उनकी उत्पत्ति भी अलग-अलग परवर्ती अपभ्रंशों से हुई है। इस तरह जहाँ उर्दू और अपभ्रंश से हिंदी को अलग करने के लिए भाषा वैज्ञानिक तर्क का इस्तेमाल किया गया वहीं हिंदी का दूसरी भाषाओं से संबंध के संदर्भ में इन भाषावैज्ञानिक तर्कों की अवहेलना की गई. इस तरह की दृष्टि सम्यक इतिहास दृष्टि नहीं कही जा सकती।

अब प्रश्न है कि ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी के संदर्भ में इन भाषावैज्ञानिक तर्कों की अवहेलना क्यों हुई. इस संदर्भ में मूल रूप से यही तर्क दिया जाता है कि चुकि मैथिली, अवधी, ब्रज, खड़ीबोली, राजस्थानी सभी एक ही हिंदी प्रदेश की भाषाएँ हैं या फिर बोलियाँ हैं, इसलिए

इन सभी भाषाओं या बोलियों में लिखे गए साहित्य को एक ही भाषा का साहित्य माना जाना चाहिए। इसके अलावा यह भी कहा जाता है कि - अभी खड़ीबोली(हिंदी) का जो विशाल प्रदेश है, जो बिहार से राजस्थान तक फैला हुआ है, उसके निवासियों के पूर्वजों की भाषा राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली आदि रही है, इसलिए खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य के इतिहास में इन भाषाओं के साहित्य को कैसे नहीं शामिल किया जाए। एक दृष्टि से यह बात सही भी लगती है, परंतु अगर इसी तर्क को आगे पीछे बढ़ा कर देखा जाए तो कुछ अलग ही तस्वीर सामने आती है। अगर हम इस तर्क को पीछे की ओर बढाएं तो यह कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं से पहले इसी हिंदी प्रदेश की बोलचाल और शिक्षित-शिष्ट समाज की भाषा अपभ्रंश, प्राकृत, पालि और सबसे अंत में संस्कृत भी रही होगी। इस तरह से हिंदी की की पूर्वज होने के नाते अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत आदि के साहित्य को भी हिंदी साहित्य अंतर्गत ले लिए जाना ले लिया जाना चाहिए। कभी-कभी मौज में आकर रामविलास शर्मा, नामवर सिंह आदि आलोचकों ने तो ऐसा करने की अनुशंसा तक कर दी है। एक समय में हिंदी आलोचकों और साहित्यकारों को फटकारते हुए नामवर सिंह ने कहा था - "हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले पेशेवर लोगों के लिए हिंदी साहित्य 10वीं शताब्दी के आसपास वीरगाथा काल से शुरू होता है। .... वे लोग भूल जाते हैं कि इस महादेश में यह बेमिसाल हिंदी भाषा-भाषी जाति दसवीं शताब्दी में ही अस्तित्व में नहीं आयी, 10वीं शताब्दी में ही इसे ईश्वर ने बनाकर अवतरित नहीं किया कि चलो अब तुम हिंदी साहित्य लिखो। इससे पहले भी यहाँ समाज और जाति थी जहाँ वाल्मीकि ने रामायण लिखी जहाँ नैमिषारण्य ने सूत और शौनक ने वेद कथाएँ कहीं, जहाँ व्यास ने महाभारत लिखी। यह वही प्रदेश है, समूचे मध्यप्रदेश को भी इसके साथ लें, जहाँ भवभूति नाम का एक विदर्भवासी कवि था, जहाँ कालीदास नाम का कवि था। इसी प्रदेश में आगे चलकर तुलसी, कबीर, जायसी, भारतेंदु आदि कवि हुए। हिंदी संस्कृत से अलग नहीं है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परंपरा हिंदी की परंपरा है। हिंदीभाषी जाति की अपनी एक विरासत है।"[44]

लगभग ठीक यही बात दोहराते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है - "संस्कृत मूलतः भरत गण की भाषा थी, इसलिए यह स्वाभाविक था कि उसके अध्ययन और प्रसार के मुख्य केंद्र उत्तर भारत में हों। वैदिक काल के बाद यह सारे केंद्र उन जनपदों में रहे हैं जो अब हिंदी भाषी जाति के प्रदेश में शामिल हैं। संस्कृत साहित्य अधिकांशतः हिंदी भाषी जाति के पूर्वजों का रचा हुआ है। यह बात बहुत लोगों को अच्छी न लगेगी। इन में दो तरह के लोग होंगे। एक तरह के वे जो

संस्कृत भाषा को सारे देश की भाषा मानते हैं; अतः उनके लिए संस्कृत साहित्य सारे देश का साहित्य है, और हिंदी भाषी या किसी भी जाति की बात करना संस्कृत साहित्य की एकता को खंडित करना है। दूसरी तरह के लोग वे होंगे जो हिंदीभाषी जाति का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते, जो यह कहेंगे कि अधिकांश संस्कृत-साहित्य को हिंदी जाति के पूर्वजों से जोड़कर ये हिंदी वाले औरों से बड़े बनना चाहते हैं; दूसरे प्रदेशों ने संस्कृत साहित्य रचने में जो योगदान किया है, उसे यह नकारते हैं।"[45]

इस तरह हम देखते हैं कि पूर्वजों और हमारी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाले साहित्य को हिंदी भाषा के साहित्य में शामिल करने से पीछे की ओर यह संस्कृत साहित्य तक चला जाता है। अगर हम इसी तरह इसे आगे की ओर ले जाएं तो यह हिंदी भाषी क्षेत्र के लोगों द्वारा अंग्रेजी में लिखे गए साहित्य की ओर चला जाएगा। इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

हम जानते हैं कि संस्कृत कभी आज के हिंदी भाषी प्रदेश में किसी ने किसी क्षेत्र में बोलचाल की भाषा में रही होगी। कालांतर में धीरे-धीरे यह बस ज्ञान-विज्ञान, साहित्य आदि की भाषा रह गयी होगी और बोलचाल में लोकभाषा के रूप में किसी दूसरी भाषा ने अर्थात पालि, प्राकृत आदि ने इसका स्थान ले लिया होगा। फिर यही पालि और प्राकृत के साथ भी हुई होगी। पालि और प्राकृत जो एक समय बोलचाल की लोक भाषाएँ थीं वह धर्म, ज्ञान-विज्ञान आदि की भाषा बन गई होगी और लोकभाषा का स्थान अपभ्रंश ने ले लिया होगा। फिर अब अपभ्रंश का स्थान आधुनिक भारतीय भाषाओं ने ले लिया है। इस तरह हम देखते हैं कि हिंदी प्रदेश में अलग-अलग कालों में अलग-अलग आधुनिक भारतीय भाषा लोकभाषा का स्थान प्राप्त की और अपने उत्कर्ष काल में पहुंची। खड़ीबोली(हिंदी) के संपर्क भाषा के रूप में प्रचार प्रसार होने से पहले ब्रज, अवधी आदि उत्तर भारत के हिंदी प्रदेश की लोकभाषा के साथ-साथ साहित्य, ज्ञान-विज्ञान की भाषा थी। मुसलमानों का शासन होने के कारण फारसी, अरबी, उर्दू आदि का भी ज्ञान-विज्ञान और लोक भाषा के रूप में स्थान बराबर बना हुआ था। परंतु खड़ीबोली(हिंदी) के प्रचार-प्रसार के बाद यह लगातार देखने में आया है कि मैथिली, अवधी, ब्रज, राजस्थानी और अब तो उर्दू भी भाषा के प्रसार-प्रचार के मामले में खड़ीबोली(हिंदी) से अपने ही क्षेत्रों में पिछड़ रही है। मैथिली, अवधी, ब्रज, राजस्थानी, भोजपुरी आदि भाषाओं का विकास तो हो रहा है, परंतु उन्हीं भाषा क्षेत्रों में खड़ीबोली(हिंदी) के विकास अधिक तेजी से हो रहा है। लंबे समय के अंतराल में इसका परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे खड़ीबोली(हिंदी) मैथिली, अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि भाषाओं पर उनके ही क्षेत्र में हावी हो जाएगी। अब ऐसा होना आरंभ भी

हो गया है। खड़ीबोली(हिंदी) के हावी होने का प्रमाण हम इस बात में भी देख सकते हैं कि अब इन भाषाओं को बोलने वाले क्षेत्र के अधिकांश लोग विद्वान, साहित्यकार आदि लिखने-पढ़ने का काम या तो हिंदी में करते हैं या अंग्रेजी में करते हैं। अपनी मातृभाषा में लिखने-पढ़ने के प्रति विद्वानों, साहित्यकारों या अन्य व्यवसाय के लोगों का रुझान बहुत कम है। इस तरह से यह स्पष्ट है कि संभवतः पचास, सौ या डेढ़ सौ वर्षों के बाद मैथिली, अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि भाषाओं की वही स्थिति हो जो आज संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की है। तात्पर्य कि वह बोलचाल की भाषा नहीं रहेगी। उसके स्थान पर मातृभाषा के रूप में हिंदी स्थान ले लेगी। परंतु खड़ीबोली(हिंदी) के विकास के इस उज्जवल पक्ष का एक धवल पक्ष भी है। वह यह कि जितनी तेजी से हिंदी प्रदेश में हिंदी नहीं विकसित हो रही है, उससे भी अधिक तेजी से हिंदी प्रदेश ही नहीं पूरे देश और पूरे विश्वभर में अंग्रेजी भाषा का प्रचार-प्रसार हो रहा है। इससे आशंका तो यह जताई जाती है कि लगभग सौ वर्ष के बाद यहाँ मैथिली, अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि का लोकभाषा के रूप में भी अस्तित्व खत्म हो जाएगा। वही हिंदी जो आज देश की संपर्क भाषा है, राष्ट्रभाषा है, राजभाषा है, मुख्य रुप से हिंदी प्रदेश के घरों में बोली जानेवाली मातृभाषा भर रह जाएगी, और हिंदी जो भूमिका आज निभा रही है, वह भूमिका हिंदी प्रदेश में अंग्रेजी निभाने लगेगी।

इस तरह से पूर्वजों वाले तर्क को यदि हम यदि हम आगे भविष्य की पीढ़ियों वाले तर्क की ओर ले जाएँ तो यह स्पष्ट होगा कि एक दिन हिंदी जाति के साहित्य में हिंदी प्रदेश के लोगों द्वारा लिखा गया अंग्रेजी भाषा का साहित्य भी परिगणित किया जाने लगेगा। इस तरह से हम देखते हैं कि पूर्वजों के भाषाओं में लिखे गए साहित्य को साथ लेकर चलने के कारण खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य का विस्तार एक तरफ तो संस्कृत तक हो जाता है और भविष्य में एक समय में अंग्रेजी तक हो जाएगा। क्या इस तरह से यह हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास रह पाएगा? अभी तो इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है, वह है - नहीं।

इसके अलावा इसी तर्क के क्रम में एक और बात परिलक्षित होती है वह यह कि जो भाषा कभी किसी काल में लोकभाषा होती है, वही भाषा समय के साथ सिर्फ साहित्यिक भाषा रह जाती है, और उसके बाद उस भाषा में साहित्य रचना भी होना कम हो जाता है। इसी हिंदीभाषी प्रदेश में संस्कृत एक समय साहित्य रचना की मुख्य भाषा थी। बाद में यह स्थान पालि ने ले लिया, पालि का स्थान प्राकृत ने ले लिया, पाकृत का स्थान अपभ्रंश ने ले लिया और अपभ्रंश का स्थान आधुनिक भारतीय भाषाओं ने ले लिया और अब हिंदी प्रदेश की आधुनिक भारतीय

भाषाओं में लिखे जाने वाले साहित्य का स्थान खड़ीबोली(हिंदी) में ले लिया है। इस तरह से हम देखते हैं कि किसी भाषा और साहित्य का उत्पत्ति, विकास, चरमोत्कर्ष और पतन किसी एक काल से दूसरे काल तक की अवधि में एक ही प्रदेश में होता रहता है। इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि आज से सौ साल बाद भी हिंदी प्रदेश का शिष्ट और शिक्षित वर्ग हिंदी भाषा में ही साहित्य की रचना करेगा। इसकी तो बहुत ही अधिक संभावना है कि सौ साल बाद हिंदी प्रदेश में ही हिंदी भाषा में साहित्य रचना करने वालों की संख्या और उनका महत्व लगभग वैसा और उतना ही होगी जितना कि अभी ब्रज आदि भाषा में साहित्य लिखने वालों का है। इसीलिए इस तरह की वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए क्या यह उचित नहीं होगा कि हिंदी प्रदेश की सभी भाषाओं का इतिहास लिखते समय हम यह ध्यान रखा जाए कि मूल रूप से उस भाषा की उत्पत्ति, विकास, चरमोत्कर्ष और पतन के आधार पर उस भाषा का उसके साहित्य का इतिहास लिखें। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि मैथिली, अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि भाषा और उसके साहित्य की उत्पत्ति, विकास, चरमोत्कर्ष और पतन हिंदी प्रदेश में ही अलग-अलग कालों में हुआ है। इसीलिए सम्यक तो यही प्रतीत होता है कि इन भाषाओं और उसके साहित्य के उत्पत्ति, विकास, चरमोत्कर्ष और पतन की अलग-अलग व्याख्या की जाए क्योंकि ऐसा करने से साहित्य के इतिहास में जो बहुत सारी असंगतियाँ आ जाती हैं - जिसका पहले से ही बड़े विस्तार से विशद विवेचन विभिन्न आलोचकों, इतिहासकारों और अन्य विद्वानों ने द्वारा हुआ है – से बचा जा सके।

इस दृष्टि को ध्यान में रखकर यदि खड़ीबोली(हिंदी) भाषा और साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो पता चलता है कि खड़ीबोली(हिंदी) का भाषा के रूप में अस्तित्व बहुत पहले से ही है और यदाकदा इस भाषा में साहित्य भी लिख जाता रहा है, परंतु खड़ीबोली(हिंदी) का संपर्क भाषा के रूप में प्रचार-प्रसार के प्रमाण 17वीं शताब्दी से पहले नहीं मिलते हैं। जहाँ तक खड़ीबोली(हिंदी) भाषा के साहित्य का प्रश्न है तो इसका इतिहास 19वीं शताब्दी के आरंभ से पीछे नहीं ले जाया जा सकता। खड़ीबोली(हिंदी) का गद्य के भाषा के रूप में साहित्य में प्रयोग पहले हुआ और फिर बाद में पद्य के भाषा के रूप में भी इसका प्रयोग होने लगा। खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य के गद्य के कुछ प्रमाण उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही मिलने लगते हैं। परंतु विशुद्ध साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली गद्य का प्रयोग भारतेंदु काल से ही माना जा सकता है। इसलिए इस दृष्टि और विचार परंपरा से विचार करने पर शिवदान सिंह चौहान की

यह मान्यता सही लगती है कि हिंदी साहित्य का संपूर्ण साहित्य आधुनिक कालीन है और यह 1857 ई. के नवजागरण के बाद का है।

इसके अलावा खड़ीबोली(हिंदी) भाषा और साहित्य के इतिहास पर भाषा के सवाल के संदर्भ में एक दूसरे तरीके से भी विचार किया जा सकता है। हम जानते हैं कि दुनिया भर की भाषाओं को भाषा परिवारों में वर्गीकृत किया जाता है। और इसी सिद्धांत के आधार पर यह कहा जाता है कि हिंदी प्रदेश की आधुनिक भारतीय भाषाएँ अपभ्रंश से उत्पन्न हुई हैं। इस तरह से अपभ्रंश, राजस्थानी, मैथिली, अवधी, ब्रज, खड़ीबोली(हिंदी) आदि भाषाओं का पिता हुआ और सभी भाषाएँ आपस में भाई हुए। परंतु जिस तरह से भाइयों के बड़े हो जाने के बाद पिता के परिवार का बंटवारा होकर भाइयों का अलग-अलग परिवार बनता है, उसी तरह से अब वक्त आ गया है कि खड़ीबोली(हिंदी) भाषा और साहित्य का इतिहास अपने भाइयों के साहित्य के इतिहास के साथ सम्मिलित रूप से न लिखा जा कर स्वतंत्र रूप से लिखा जाए। हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की पूरी परंपरा को इस परिवार की संकल्पना के आधार पर मुख्य रुप से दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला, इतिहास लेखन की वह परंपरा जिसमें यह भाषा रूपी सभी भाइयों के साहित्य के इतिहास को सम्मिलित रूप से एक साथ लिखा जाता रहा है। हिंदी साहित्य का अधिकतर इतिहास इसी श्रेणी का है। परंतु एक इतिहास ऐसा भी है जो हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की दूसरी परंपरा में है अर्थात जिसमें उसके भाई रूपी भाषाओं के साहित्य का इतिहास सम्मिलित नहीं है और वह इतिहास है - हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष। यह सही है कि एक ही अपभ्रंश भाषा से उत्पन्न होने के कारण राजस्थानी, मैथिली, अवधी, ब्रज आदि सभी आपस में भाई हैं और एक जैसे हैं इसलिए इनका इतिहास भी एक जैसे ही लिखा जाना चाहिए, एक साथ ही लिखा जाना चाहिए। परंतु यह जितना सत्य है उतना ही सच एक दूसरी बात भी है। वह यह है कि समय बीतने पर और वयस्क होने पर हमारे भारतीय समाज और परिवार में भाइयों का बटवारा भी होता है और उनके अलग परिवार भी बनते हैं। इस प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए अब यह आवश्यक हो गया है कि खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य के इतिहास को उसके भाषा रुपी भाइयों के साहित्य के इतिहास से अलगा दिया जाए। इस तरह से अलगाने की बात अभी के समय तो कही जा सकती है, परंतु यही बात आचार्य शुक्ल इस जमाने में नहीं कही जा सकती थी। क्योंकि उस समय खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य अपने शैशव अवस्था में थी और इसलिए उसे अपने अन्य भाषा रुपी भाइयों के साहित्य के सहारे की आवश्यकता थी। परंतु उस आवश्यकता, उस ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अभी भी जब हिंदी

खड़ीबोली(हिंदी) भाषा और साहित्य का परिवार रुपी अपने इतिहास का दायरा ही इतना विस्तृत हो गया है कि उसे संभालने में, एक परिवार में एक साथ रखने में कठिनाई हो रही है तो ऐसे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समय की ऐतिहासिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसी परिपाटी का पालन करना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। जिस तरह से समय के साथ एक ही पिता के पुत्रों का अलग-अलग परिवार बनता है, उसी तरीके से एक ही भाषा अपभ्रंश से उत्पन्न हुई इन सभी बोलियों के साहित्य को अब अलग-अलग लिखने की आवश्यकता है, यही समय की मांग है और यही व्यवहारिक और बुद्धिमत्तापूर्ण भी होगा।

खड़ीबोली(हिंदी) और उसके भाषा रूपी भाइयों के बीच एक ही पिता के पुत्र होने के कारण इतनी अधिक निकटता है कि अचानक से उस पुराने भाइयों वाले परिवार को छोड़कर खड़ीबोली(हिंदी) भाषा और साहित्य का अलग परिवार बसाना बहुत ही कठिन और दुरूह मालूम पड़ता है। परंतु सदा से यह रीत चली आई है कि आपस के भाई कितने भी एक क्यों न हों, उन्हें एक न एक दिन अलग-अलग होकर अलग-अलग परिवार का हिस्सा बनना ही होता है। जिस ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य में भाषा रूपी उनके भाइयों के साहित्य को भी शामिल किया गया था, अब उसी तात्कालिक, ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण उन भाइयों के साहित्य को खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य के इतिहास से अलग करना भी आवश्यक है। इस तरह से हम पाते हैं कि शिवदान सिंह चौहान के ‘हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष’ में अपनाई गई भाषा दृष्टि आज के युग के हिसाब से अधिक प्रसांगिक और व्यवहारिक है।

सन 1954 ई. में 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के प्रकाशन के बाद से अबतक दर्जनों हिंदी साहित्य के इतिहास के पारंपरिक इतिहास ग्रंथ - जिसमें आदिकाल भक्तिकाल रीतिकाल के साथ-साथ आधुनिक काल का भी इतिहास लिखा गया है – या केवल आधुनिक काल को केंद्र में रखकर भी बहुतेरे इतिहास ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। इसके अलावा विधाओं को आधार बनाकर भी अनेकों इतिहास ग्रंथ लिखे गए है। इसलिए यह प्रसांगिक होगा कि 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के बाद लिखे गए इन इतिहासों के स्वरूपों, दृष्टियों, सवालों आदि पर ही संक्षिप्त रूप पर विचार कर लिया जाए। ताकि यह समझा जा सके कि इन साहित्येतिहासों में 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की मान्यताओं का प्रभाव है या नहीं, यदि है तो कितना है। इसलिए अगले अध्याय में इन सब प्रश्नों पर विचार किया जाएगा।

सन्दर्भ सूची :-

[1]अमरेन्द्र त्रिपाठी, प्रगतिशील आलोचना और शिवदान सिंह का आलोचना कर्म;पृष्ट संख्या 162

[2]शिवदान सिंह चौहान, हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; पृष्ट संख्या 20

[3]वही; पृष्ट संख्या 21

[4]शिवदान सिंह चौहान, प्रगतिवाद; पृष्ठ संख्या 313

[5]वही; पृष्ठ संख्या 319-20

[6]रामविलास शर्मा, भाषा और समाज; पृष्ट संख्या 368

[7]अमरेन्द्र त्रिपाठी, प्रगतिशील आलोचना और शिवदान सिंह का आलोचना कर्म;पृष्ट संख्या 140,

[8]शिवदान सिंह चौहान, हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; पृष्ट संख्या 18

[9]'भारतीय साहित्य' जुलाई-अक्टूबर 1974अंक में 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक लेख; पृष्ट संख्या 113

[10]रामविलास शर्मा, भाषा और समाज; पृष्ट संख्या 240

[11]वही; पृष्ठ संख्या 243

[12]वही; पृष्ठ संख्या 241

[13]मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; पृष्ठ संख्या 176

[14]वही; पृष्ठ संख्या 176

[15]रामविलास शर्मा, भाषा और समाज; पृष्ट संख्या 240

[16]वही; पृष्ठ संख्या 240-41

[17]वही; पृष्ठ संख्या 242

[18]वही; पृष्ठ संख्या 242

[19]वही; पृष्ठ संख्या 242

[20]वही; पृष्ठ संख्या 243-44

[21]वही; पृष्ठ संख्या 241

[22]वही; पृष्ठ संख्या 244

[23]वही; पृष्ठ संख्या 245

[24]वही; पृष्ठ संख्या 273-74

[25]वही; पृष्ठ संख्या 262

[26]वही; पृष्ठ संख्या 256

[27]वही; पृष्ठ संख्या 252

[28]वही; पृष्ठ संख्या 258

[29]वही; पृष्ठ संख्या 250

[30]वही; पृष्ठ संख्या 252

[31]रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिश्चंद और हिंदी नवजागरण की समस्याएं; पृष्ठ संख्या 25

[32]वही; पृष्ठ संख्या 26

[33]मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; पृष्ठ संख्या 175

[34]वही; पृष्ठ संख्या 174-75

[35]रामविलास शर्मा, ऐतिहासिक भाषाविज्ञान और हिंदी भाषा; पृष्ठ संख्या 2

[36]रामविलास शर्मा, भाषा और समाज; पृष्ठ संख्या 247-48

[37]वही; पृष्ठ संख्या 266

[38]वही; पृष्ठ संख्या 268

[39]रामविलास शर्मा, भारतीय साहित्य की भूमिका; पृष्ठ संख्या 356

[40]वही; पृष्ठ संख्या 357

[41]वही; पृष्ठ संख्या 359

[42]वही; पृष्ठ संख्या 358

[43]वही; पृष्ठ संख्या 356

[44]वही; पृष्ठ संख्या 360

[45]रामविलास शर्मा, भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ; पृष्ट संख्या 37

अध्याय : चार

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल : दृष्टियाँ और सवाल

4.1 आधुनिक काल : शिवदान सिंह चौहान की दृष्टि और सवाल

4.2 आधुनिक काल : अन्य महत्वपूर्ण दृष्टियाँ और सवाल

4.1 आधुनिक काल : शिवदान सिंह चौहान की दृष्टि और सवाल

हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष में शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है कि - "हमारा विचार है कि अब इतिहास लेखन और अनुसंधान की त्रिविध परिपाटी का सूत्रपात होना चाहिए। हिंदी भाषा समूह के लगभग सभी क्षेत्रों में अब विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी है। कतिपय विद्यार्थियों ने अपने-अपने क्षेत्रों की मात्रा भाषाओं और बोलियों के साहित्य और इतिहास में अनुसंधान कार्य भी किया है लेकिन मुख्यतः इन विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग खड़ी बोली हिंदी की दृष्टि से ही इस प्रकार की अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देते हैं। अधिकतर लोकगीत और लोक वार्ताओं आदि की खोज और संग्रह तक ही इन प्रयत्नों की व्याप्ति है। इन भाषाओं में आज भी काव्यरचना हो रही है और गद्य साहित्य निर्माण की संभावना भी पैदा की जा सकती है, इस दिशा में इन विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग कोई प्रयत्न नहीं करते। फलत: आधुनिक युग के अनेक कवियों का नामोल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास में नहीं होता। लेकिन यह मृत भाषाएं नहीं है और जिन भाषा-भाषियों के खून-पसीने की कमाई पर इस विश्वविद्यालयों और उनके हिंदी विभागों को चलाया जाता है, उनका कर्तव्य है कि वह हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने के साथ-साथ अपने-अपने क्षेत्रों की मातृभाषाओं पर भी विशेष रुप से ध्यान दें और उनके साहित्य के इतिहास की विस्तृत खोजबीन कराएं।"[1] फिर भी आगे लिखते हैं कि - " इन भाषागत इतिहासों में अपभ्रंश काल से लेकर आजतक के लिखित अथवा श्रुति-परंपरा से प्राप्त साहित्य का संग्रह, उसकी प्रवृतियों का विकास क्रम और विवेचन, कालक्रम में उनमें साहित्य रचना के व्यापक प्रसार और ह्रास का संपूर्ण लेखा-जोखा होना चाहिए, ताकि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह जाना जा सके कि किसी भाषा में किन अंतर्वास प्रस्तुतियों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल संघटन के कारण साहित्य निर्माण की धारा कभी वेग से फूट पड़ी तो कभी सुखकर मंद पड़ गई और अब उनमें आधुनिक साहित्य निर्माण को कैसे प्रोत्साहन दिया जा सकता है। इस प्रकार जब उत्तर-मध्य भारत की विभिन्न भाषाओं और बोलियों का सुसंबद्ध इतिहासों का अनुसंधान और प्रणयन हो जाएगा, उस समय हम देखेंगे कि किसी भाषा-भाषी को अपमानित और लज्जित होने का अवसर नहीं रहेगा।"[2]

इस तरह से हम देखते हैं कि शिवदान सिंह चौहान की इतिहास दृष्टि में एक तरफ तो सिर्फ खड़ी बोली हिंदी के साहित्य का अस्सी वर्ष का इतिहास है, वही वह हिंदी प्रदेश की संपूर्ण भाषाओं और बोलियों के समूह के अलग अलग अनुसंधान करके इतिहास लिखे जाने की परंपरा की

शुरुआत की वकालत करते हैं। उनका मानना है कि जब सम्यक अनुसंधान के पश्चात सभी भाषाओं और बोलियों के साहित्य की प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध होगी तभी वृहद् रूप से हिंदी प्रदेश की 'हिंदी भाषा-समूह' के साहित्य के इतिहास की की कल्पना की जा सकती है। उन्होंने लिखा भी है - "इस व्यापक अनुसंधान कार्य के बाद इन सब भाषा साहित्य की स्वतंत्र इतिहासों के आधार पर ही एक ऐसे बृहद इतिहास की कल्पना की जा सकती है जो खड़ी बोली के हिंदी-उर्दू दोनों साहित्यों के साथ-साथ उत्तर-मध्य भारत की इन सब भाषाओं के साहित्य का सम्मिलित इतिहास हो, जिसमें हर भाषा की देन को समान भाव से स्वीकार किया गया हो। व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक दृष्टि से ऐसे बृहद इतिहास की अनिवार्यता सदा ही बनी रहेगी क्योंकि इस सभी भाषाओं ने मिलकर उत्तर भारत की सांस्कृतिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीय चेतना के विकास में योगदान योग दिया है, जिसके कारण इस विशाल भूखंड के जनसाधारण अपनी-अपनी विशिष्ट जातीयता के साथ ही एक जातीयता का भी उतने ही प्रबल रूप से अनुभव करते हैं। उर्दू को भी इस वृहद् हिंदी भाषा-समूह के इतिहास में सम्मिलित करना होगा क्योंकि उर्दू भी इस क्षेत्र की एक भारतीय भाषा ही है और उत्तर भारत ही नहीं बल्कि समूचे भारत के राष्ट्रीय जागरण में उसका योगदान किसी भी अन्य भाषा से कम नहीं है। इस प्रकार त्रिविध धाराओं में बंटकर ही हिंदी और हिंदी भाषा समूह के साहित्य का वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास लिखा जा सकता है जो इतिहास लेखन की पुरानी परिपाटी की असंगतियों, संकीर्णताओं और भ्रान्तियों से मुक्त हो।"[3]

इसके अलावा शिवदान सिंह चौहान ने अपनी इतिहास दृष्टि के अनुसार - सन 1946 ईस्वी में लिखे अपने एक लेख 'साहित्य की परख' में शुक्ल जी को पुराने ढर्रे की शास्त्रीय आलोचना की लकीर पीटने वाला आलोचक कहा। उन्होंने शुक्ल जी पर आरोप लगाया कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से प्राप्त दृष्टि के आधार पर आलोचना करने के बजाय उन्होंने संस्कृत से चली आ रही काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर ही साहित्य का विश्लेषण और विवेचन किया। इसके अलावा शिवदान यह भी मानते हैं कि आचार्य शुक्ल ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, मनोविज्ञान, द्वंदात्मक भौतिकवादी दर्शन के कला संबंधी विचार, मानव शास्त्र आदि के नए अन्वेषणों, अनुसंधानों और निष्कर्षों का कोई लाभ नहीं उठाया। इसके बजाय वे ‘लोकमंगल’ और ‘साधारणीकरण’ जैसी साहित्य के आलोचना की पुरानी मान्यताओं को लेकर ही आगे बढ़े। शिवदान सिंह चौहान ने जब ‘हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष’ लिखी, उस समय हिंदी जगत में प्रयोगवादी और रूपवादी रचनाकारों का प्रभुत्व था। इस बढ़ते हुए प्रभुत्व के खिलाफ उन्होंने

मार्क्सवादी दृष्टि से सामाजिक सरोकारों से युक्त इतिहास दृष्टि को लेकर सामने आए। इस तरह उन्होंने फिर से साहित्य के आस्था के केंद्र में समाज और मनुष्य को लाने का प्रयास किया। और उन्होंने प्रयोगवादी, प्रतिकवादी, नई कविता, अस्तित्ववादी आदि सभी समाज विरोधी प्रवृतियों वाले साहित्य के विरोध में लिखा। और वस्तुवादी इतिहासकार होने के नाते साहित्य के इतिहास में वस्तु को ही केंद्रीय महत्व प्रदान किया और उसी को आधार बनाकर विभिन्न साहित्यिक आंदोलनों परिवर्तनों की अपने इतिहास में व्याख्या की। शिवदान सिंह चौहान के इतिहास दृष्टि के सैद्धांतिक आधार का निर्माण प्रगतिशील आंदोलन के चेतना से हुआ था। इस प्रगतिशील चेतना के केंद्र में 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' की अवधारणा है। इसलिए यह उन सभी इतिहासकारों के खिलाफ खड़े होते हैं जिन्होंने 'दृष्टिकोण रहित' इतिहास लेखन की वकालत की। इनका मानना है कि श्रेष्ट साहित्य का सृजन तभी होता है जब साहित्यकार सामयिक वैचारिक संकीर्णताओं को तोड़कर मानव मात्र के विकास के लिए नवीन मूल्य और विचारों का सृजन अपनी रचनाओं में करता है। रचनाओं की श्रेष्ट का आधार है कि - किसी भी रचना में उस रचना के काल के समाज का वास्तविक चित्रण कितनी गंभीरता से हुआ है। किसी भी कलाकार या साहित्यकार के श्रेष्ठता की कसौटी वे उसकी सत्यान्वेषी, समाजिक रूप से वास्तविकता और यथार्थ चित्रण करने की उसकी क्षमता को मानते हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि उनकी इतिहास दृष्टि के केंद्र में प्रमुख रुप से जनपक्षधरता की भावना है।

4.2 आधुनिक काल : अन्य महत्वपूर्ण दृष्टियाँ और सवाल

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के अन्य इतिहास लेखन की दृष्टियों को मुख्य रुप से दो धाराओं में बाँटकर समझा जा सकता है। पहला, हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की वे दृष्टियाँ जो आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल के इतिहास लेखन और मूल्यांकन में विभिन्न हिंदी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों द्वारा अपनाई गई हैं। इन विभिन्न दृष्टियों के केंद्र में मुख्य रुप से उस समय के रचनाओं की प्रमाणिकता, भाषा, रचनाकाल और उसके रचनाकार के जीवन और व्यक्तित्व से संबंधित पर्याप्त और प्रमाणिक जानकारी की उपलब्धता न होने के साथ-साथ उस समय के समाज और ऐतिहासिक परिस्थितियों से उन रचनाओं के संबंध आदि के सवाल हैं।

उदाहरण के लिए, जहाँ आदिकाल के इतिहास लेखन की दृष्टियों में उसके उत्पत्ति सीमांकन आदि में अपभ्रंश और हिंदी के बीच अंतर का सवाल, रचनाओं की प्रमाणिकता का सवाल, रचनाओं के काल का सवाल आदि महत्वपूर्ण हैं, और यही उस काल के इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियों को निर्धारित करने वाले कारक हैं। वहीं भक्तिकाल उसके उत्पत्ति के कारण, सीमांकन, समाज से उसके संबंध आदि के संदर्भ में अलग-अलग इतिहासकारों ने अलग-अलग दृष्टि से विचार किया है। यहाँ आदिकाल की तरह इतिहास लेखन दृष्टि में रचनाओं की प्रामाणिकता, उसके रचनाकाल और भाषा का सवाल उतना महत्वपूर्ण नहीं है। परंतु इस काल में इतिहास लेखन की दृष्टियों में कुछ नए सवाल जुड़ गए हैं, यथा - भक्तिकाल की उत्पत्ति में विदेशी आक्रमण और इस्लाम का कितना प्रभाव है?, यह पुनर्जागरण का काल है या नहीं, इसमें लोकसंग्रह की भावना कितनी है, क्या यह दुनिया का अपने तरह का अकेला साहित्यिक आंदोलन है, क्या इसको प्रथम नवजागरण और हिंदी का आधुनिक काल कहा जा सकता है या नहीं जैसा कि रामविलास शर्मा ने लिखा है, आदि। इन सभी दृष्टियों की अपनी समस्याएँ हैं और इस पर अपने-अपने अलग-अलग तरह के विवाद हैं। फिर भक्तिकाल में कवियों की केंद्रीयता का प्रश्न भी इतिहास दृष्टि का एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन जाता है। कबीर बड़े हैं या तुलसी या फिर साहित्यिक दृष्टि से तुलसी महान हैं या सूरदास। वर्तमान सामाजिक और ऐतिहासिक स्थितियों में भक्तिकाल की क्या प्रसांगिकता है?, ये सभी सवाल और इसके इतर भी बहुतेरे अनेकों सवाल हैं जो भक्तिकाल के साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टियों को निर्धारित करते हैं। इस विस्तार में न जाते हुए यहाँ पर सिर्फ यह इंगित करना उद्देश्य है कि आदिकाल से भक्तिकाल के इतिहास लेखन की दृष्टियाँ और सवाल भिन्न हैं।

इसी तरह रीतिकाल के उत्पत्ति के कारण, सीमांकन आदि के सवाल फिर से हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में कुछ नए सवाल और नई दृष्टियाँ लेकर सामने आती हैं। रीतिकाल को आचार्य शुक्ल मुख्य रूप से दरबारी साहित्य मानते हुए भक्ति साहित्य के मुकाबले कम महत्व देते हैं, और कहते हैं कि रीतिकालीन साहित्य में जीवन और अनुभूति की संकीर्णता है। कवियों में व्यक्तिगत विशेषताओं का अभाव है। इनमें सरस भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ध्यान न देकर जटिलता, कठिनता और चमत्कार पर अधिक जोर है। वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन साहित्य का संस्कृत की रीती-प्रवृत्ति के साथ संबंध जोड़ते हुए उसे एक लंबी चलती आती हुई परंपरा के संदर्भ में दिखाया है। रामविलास शर्मा ने इसे सामंत वर्गीय रुचि की विकृति का द्योतक बताया है। परंतु विजयदेव नारायण साही ने इन सबसे एक अलग दृष्टि से

विचार करते हुए रीतिकाल को भक्तिकाल के मुकाबले धर्मनिरपेक्ष होने को लेकर इसे अधिक सरस और रसात्मक अनुभूति के साहित्य के रूप में देखा है। उनके अनुसार रीतिकाल ने एक तरह से साहित्य को भक्तिकालीन धार्मिकता के आवरण से मुक्ति दिलाई और शुद्ध मानवीय भावभूमि पर स्थापित किया। उन्होंने भाषा के संदर्भ पर भी विचार करते हुए लिखा है कि रीतिकालीन कवियों ने भाषा का अलंकारिक और चमत्कारपूर्ण प्रयोग करते हुए उसे उस समय की दरबारी भाषा फारसी के समक्ष चुनौती देने के लिए खड़ा किया। उन्होंने यह भी कहा है कि - दरअसल ब्रज भाषा का हिंदी प्रदेश के अतिक्रमण के पीछे रीती कवियों की प्रतिष्ठा थी। डॉ. नामवर सिंह ने रीतिकाल की उत्पत्ति पर विचार करते हुए लिखा है कि - भक्तिकाल का नेतृत्व जब सामंतवादी भक्ति कवियों ने हथिया लिया तो रीतिकाल तो आना ही था। डॉ. नित्यानंद तिवारी ने रीतिकाल पर तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति को ध्यान में रखकर पुनर्विचार करने की संभावना पर जोर दिया है। इस तरह से हम देखते हैं कि रीतिकाल के इतिहास लेखन की दृष्टियाँ भी कुछ अनिवार्य समानताओं के बावजूद भक्तिकाल और आदिकाल के इतिहास लेखन की दृष्टियों और सवालों से भिन्न है।

ठीक इसी तरह आधुनिक काल के इतिहास लेखन की दृष्टियाँ भी कुछ तो आदिकाल-भक्तिकाल-रीतिकाल के जैसी हैं, परंतु कुछ नयी दृष्टियाँ और सवाल भी आधुनिक काल के इतिहास लेखन की दृष्टि में महत्वपूर्ण बनकर उभरे हैं।

आधुनिक काल के हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की दृष्टि में आधुनिक काल की उत्पत्ति के कारण और प्रमाणिकता आदि का सवाल तो महत्वपूर्ण नहीं है, परंतु आधुनिक काल की उत्पत्ति वर्ष, काल विभाजन, आधुनिक काल के ही विभिन्न युगों की उत्पत्ति, उत्थान और पतन के कारणों को लेकर दृष्टियों में पर्याप्त भिन्नता है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण दृष्टियों की चर्चा हम नीचे करेंगे।

आधुनिक काल के साहित्य के इतिहास को प्रतिक्रियावादी इतिहास दृष्टि से समझने के प्रयास हुए हैं। छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया, प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया, प्रयोगवाद को प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया और अगर अधिक गहराई में जाएँ तो छायावाद को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध कल्पनाशीलता की प्रतिक्रिया या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, फिर प्रगतिवाद को सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह या कल्पना के प्रति यथार्थ का विद्रोह और प्रयोगवाद को प्रगतिवाद की सामूहिकता के विरुद्ध व्यक्तिकता का विद्रोह आदि के रूप में समझने के प्रयास हुए हैं।

इस तरह की दृष्टि की सबसे बड़ी समस्या यह है कि यह साहित्य और समाज के संबंध की उपेक्षा करती है। इसके अलावा इस तरह की दृष्टि की एक समस्या यह भी है कि यह साहित्य को केवल एक दूसरे के विरोधी दो खाचों में रख कर देखती है। परंतु यह संभव है - और आधुनिक बहुआयामी और जटिल जीवन ने यह संभव भी कर दिया है - कि एक ही समय में साहित्य नानाविध विधाओं में, नानाविध दिशाओं में, एक साथ ही अग्रसर हो रही हो और वे सब आपस में एक दूसरे की प्रतिक्रिया का परिणाम न हों। वास्तव में साहित्य के इतिहास लेखन का यह प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण शीतयुद्ध कालीन मानसिकता का द्योतक है, जो विश्व को दो विचारधाराओं के बीच संघर्ष और टकराहट के रूप में देखता है।

इसके अलावा प्रयोगवाद तक तो इस इतिहास दृष्टि से चला जा सकता है परंतु प्रयोगवाद के बाद आई नयी कविता उसके बाद की साठोत्तरी कविता आदि में जैसे व्यक्तिवाद का हीं विस्तार होता चला गया है फिर उसे कैसे इस प्रतिक्रियावादी इतिहास दृष्टि से समझा जा सकेगा।

इसके बाद स्त्रियों ने जो साहित्य लिखे जिसमें उनके अपने दुख-दर्द, समाज और जीवन से उनके अपने संबंध आदि की विस्तृत अभिव्यक्ति हुई है, उसको कैसे प्रयोगवादी या नयी कविता या साठोत्तरी कविता की प्रतिक्रिया के रूप में समझा जा सकेगा। फिर वर्तमान युग में दलित साहित्य और आदिवासी साहित्य आदि विमर्शों के साहित्यका जोर है, उसके सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपेक्षा कर जैसा कि प्रतिक्रियावादी इतिहास दृष्टि में किया जाता है, केवल समाज स्वायत्त अस्तित्व रखने वाली साहित्य की प्रगति और दुर्गति से स्वतः संचालित प्रक्रिया के रूप में नहीं समझा जा सकता।

इसके अलावा केवल कविताएँ ही साहित्य नहीं है। विभिन्न अन्य गद्य विधाएँ यथा – संस्मरण, डायरी, आत्मकथा, पत्र, रिपोतार्ज, नाटक, आदि अनिवार्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास आदि कल्पनात्मक साहित्य के अंतर्गत नहीं गिने जा सकते, तो क्या उनकी उत्पत्ति विकास को भी इस प्रतिक्रियावादी साहित्येतिहास दृष्टि से समझा जा सकता है। कविता को तो एक हद तक व्यक्ति-समाज आदि दो विरोधी ध्रुवों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में समझ भी सकते हैं, परंतु उपन्यास, नाटक आदि स्वाभाविक रूप से समाजोन्मुख साहित्यिक विधा को साहित्य की स्वतःसंचालित प्रक्रिया की इतिहास दृष्टि से कतई नहीं समझा जा सकता। इसलिए निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के इतिहास लेखन यह प्रतिक्रियावादी इतिहास दृष्टि हमें इतिहास लेखन की नई दिशा तलाश करने में बहुत दूर तक नहीं ले जा सकेगी।

आधुनिक काल के इतिहास लेखन की एक दृष्टि 'एक व्यक्ति-एक युग' की अवधारणा भी रही है। आदिकाल, भक्तिकाल,रीतिकाल में तो विभाजन और वर्गीकरण का आधार प्रवृत्ति को बनाया गया था, यथा आदिकाल में वीरगाथात्मक काव्य, भक्ति काल में निर्गुण-पंथी, सगुण-पंथी काव्य और उसमें भी राम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि, रीतिकाल में रीतिबद्ध काव्य, रीतिमुक्त काव्य, रीति-सिद्ध काव्य आदि वर्गीकरण किए गए थे, परंतु आधुनिक काल में काव्य के कालविभाजन और नामकरण में प्रवृत्ति के साथ-साथ व्यक्ति को भी आधार बनाया जाने लगा यथा - आधुनिक काल के काव्य का पहला और दूसरा युग भारतेंदु और द्विवेदी के नाम पर रखा गया। फिर बाद में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद कविता आदि को प्रवृतियों को आधार बनाकर नामकरण और काल विभाजन हुआ।

परंतु अगर हम आधुनिक काल के गद्य साहित्य को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि ज्यादातर हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने काल विभाजन का आधार व्यक्ति को बनाया है, यथा - उपन्यास के संदर्भ में प्रेमचंद्र-पूर्व उपन्यास, प्रेमचंद-युगीन उपन्यास, प्रेमचंदोत्तर उपन्यास, नाटक के संदर्भ में प्रसाद-पूर्व नाटक, प्रसादोत्तर नाटक, प्रसाद-युगीन नाटक और आलोचना के संदर्भ में शुक्ल-पूर्व आलोचना, शुक्ल-युगीन आलोचना, शुक्लोत्तर आलोचना, कहानी के संदर्भ में प्रेमचंद-पूर्व कहानी, प्रेमचंद युगीन कहानी, प्रेमचंदोत्तर कहानी आदि। इस तरह के नायकोन्मुख इतिहास दृष्टि से साहित्य के इतिहास लेखन की वैज्ञानिकता, निष्पक्षता आदि को गहरा आघात लगता है। साथ ही साहित्य में जबकि समानता से अधिक विशिष्टता का महत्व है तो यह कहाँ तक उचित है कि किसी एक व्यक्ति के साहित्य को केंद्र में रखकर ही उस विधा के संपूर्ण साहित्य का मूल्यांकन किया जाए। इसके अलावा उदाहरण के रूप में - माना कि प्रेमचंद से पहले हिंदी में कोई बड़ा कहानीकार और उपन्यासकार नहीं हुआ और प्रेमचंद के बाद भी अभी तक प्रेमचंद से बड़ा कोई उपन्यासकार और कहानीकार नहीं हुआ इसलिए अभी तो यह सुविधा हो सकती है और यह तार्किक भी प्रतीत हो सकता है कि प्रेमचंद को केंद्र में रखकर कहानी या उपन्यास के साहित्य के इतिहास लेखन में क्या आपत्ति है परंतु की यह निश्चित ही है कि भविष्य में भी प्रेमचंद से बड़ा कोई कहानीकार या उपन्यासकार हिंदी जगत में उत्पन्न नहीं होगा। महान साहित्यकार केवल इतिहास के उस मोड़ो पर अपनी महान प्रतिभा का परिचय देते हैं। इसके अलावा किसी भी साहित्यिक विधा में किसी महान प्रतिभा के अवतरण में बहुतेरे सामान्य प्रतिभाओं के परोक्ष साधना क्या योगदान भी होता है। साहित्य के इस नायकोन्मुख इतिहास दृष्टि में इन परोक्ष प्रतिभाओं की उपेक्षा हो जाती है। उन्हें उनका उचित ऐतिहासिक स्थान नहीं

मिल पाता। इसलिए उचित यही प्रतीत होता है कि व्यक्ति को केंद्र में रखकर इतिहास लेखन की इस दृष्टि को लेकर बहुत दूर तक नहीं जाया जा सकता।

आधुनिक काल के इतिहास लेखन की एक दृष्टि 'पुनर्जागरण वादी या नवजागरण वादी या नवोत्थान वादी' आदि विभिन्न नामों से जानी जाती है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भक्तिकाल को आधुनिक काल की संज्ञा देते हुए उसे प्रथम नवजागरण काल माना था और आधुनिक काल सन 1857 ई. के बाद के काल को खासकर 'भारतेंदु युग' से दूसरे नवजागरण का आरंभ माना था और उसके बाद शिवदान सिंह चौहान और नामवर सिंह जैसे आलोचकों का मानना है कि भारत की आजादी सन 1947 ई. के साथ ही तृतीय नवजागरण का आरंभ होता है। इस तरह से आधुनिक काल के इतिहास को इन तीन नवजागरण के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। इस ओर ध्यान देने की जरूरत है कि रामविलास शर्मा जिसे प्रथम नवजागरण कहते हैं, यह वह समय था जब भारत का शासन भारतीयों के हाथ से निकल कर विदेशी आक्रमणकारी मुसलमानों के हाथ में चला गया। द्वितीय नवजागरण के आरंभ वर्ष सन 1857 ई. में भी भारत का शासन मुग़ल के हाथ से निकलकर ब्रिटिश महारानी के हाथों में चला गया। फिर जिसे शिवदान सिंह चौहान और नामवर सिंह जैसे आलोचक तृतीय नवोत्थान या नवजागरण की संज्ञा देते हैं, की शुरुआत सन 1947 ई. में भारत के आजाद होने के साथ हुआ. इस समय भारत का शासन अंग्रेजों के हाथ से निकल कर भारतीयों के हाथ में आ गया। इस तरह हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य के तीनों नवोत्थान का आरंभ भारत के राजनीतिक शासन के एक हाथ से निकलकर दूसरे के हाथ में जाने से हुआ।

इन तीनों नवजागरण कालों में से दूसरे नवजागरण काल अर्थात राजनीतिक रुप से सन 1857 ई. के बाद और साहित्यिक दृष्टि से भारतेंदु युग से नवजागरण के आरंभ को मानने को लेकर कोई विवाद नहीं है, परंतु बहुतेरे इतिहासकारों और आलोचकों ने न तो रामविलास शर्मा के प्रथम नवजागरण की अवधारणा और न ही सन 1947 ई. से भारतीय नवजागरण की अवधारणा को मान्यता दी है। चुकीं यहाँ विवेच्य विषय आधुनिक काल के साहित्य इतिहास दृष्टि को लेकर है इसलिए हम भक्तिकालीन प्रथम नवजागरण की रामविलास शर्मा अवधारणा पर विचार किए बिना, इसपर विचार करेंगे कि विभिन्न आलोचकों और विचारकों का सन 1947 ई. से तृतीय नवजागरण को मानने न मानने को लेकर क्या विचार है, और यह किस तरह आधुनिक काल के हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की दृष्टि को प्रभावित करता है।

सन 1947 ई. को हिंदी साहित्य के इतिहास में एक नई शुरुआत एक महत्वपूर्ण मोड़ मानने को लेकर सहमति नहीं है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय तो इसे हिंदी साहित्य इतिहास में नया मोड़ मानने के पक्ष में कतई नहीं हैं। क्योंकि उनका मानना है कि सन 1947 ई. से लेकर 1951 ई. तक का काल देश की राजनीति और हिंदी साहित्य में भारी उथल-पुथल और गहरे संघर्ष का काल है. इस बीच तेलंगाना में असफल कृषि क्रांति हुई, देश का विभाजन हुआ, विभाजन में हजारों-लाखों लोग मारे गए, सांप्रदायिक दंगे हुए, गांधी की हत्या हुई और प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े कलाकारों, साहित्यकारों, पत्रकारों, रंगकर्मियों, पत्र-पत्रिकाओं आदि का कठोर दमन किया गया। फिर उन्होंने यह भी लिखा है कि सन 1951 से 1960 ई. के बीच वास्तव में व्यक्तिवाद और आत्मनिष्ठता के खिलाफ यथार्थवाद की प्रवृत्ति बराबर रूप से संघर्ष कर रही थी।[4] यही कारण है कि वे सन 1947 ई. से हिंदी साहित्य इतिहास में तृतीय नवोत्थान का आरंभ नहीं मानते। फिर उनका तर्क है कि -

"साहित्य का इतिहास देश के राजनीतिक इतिहास के एकदम साथ-साथ सदैव चले, यह जरुरी नहीं है। कभी-कभी राजनीतिक परिवर्तन के घटित होने पर भी साहित्य में तत्काल बुनियादी परिवर्तन नहीं होते, इसके विपरीत कभी-कभी राजनीतिक परिवर्तन की संभावना से ही साहित्य में परिवर्तन संभव हो जाता है।"[5]

परंतु यहाँ अत्यंत विनम्रता से यह रेखांकित करने की आवश्यकता है कि यदि कोई साहित्य की इतिहास दृष्टि या साहित्य के आलोचना की पद्धति राजनीतिक पक्षधरता को सबसे अधिक केंद्र में रखकर चलती है, तो वह है - मार्क्सवादी दृष्टि। इसलिए डॉ. मैनेजर पाण्डेय का यह सैद्धांतिक तर्क कि साहित्य के इतिहास और देश के इतिहास का साथ-साथ चलना सदैव जरूरी नहीं है, बहुत मजबूत नहीं है। यह इसलिए भी कहा जा सकता है क्योंकि डॉ. मैनेजर पाण्डेय स्वयं 1967 ई. में नक्सलबाड़ी के आंदोलन से स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के विकास का दूसरा ऐतिहासिक मोड़ मानते हैं।[6]

सन 1947 ई. से हिंदी साहित्य इतिहास का नवो-उत्थान मानने वालों में शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह और रामविलास शर्मा आदि का नाम महत्वपूर्ण है। शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी साहित्य के इस मोड़ पर विचार करते हुए लिखा है कि -

"अभिनंदनीय बात यह है कि विचारधाराओं के संघर्ष की तीव्रता बहुत दिनों तक नहीं टिकीं क्योंकि हिंदी के संवेदनशील रचनाकार, प्रगतिवादी हों या कला के लिए कलावादी, आजादी

के कुछ ही दिनों में यह महसूस करने लगे कि आजादी से पहले की सरल दुनिया का अंत हो गया है। जीवन भी जटिल हो गया है और उसकी समस्याएँ भी जटिल हो गई हैं और अब प्रश्न राजनीतिक उद्देश्यों और आंदोलनों से सम्बद्ध और असम्बद्ध होने का नहीं बल्कि लेखक के नाते अपनी अनुभूति की गहराई में जीवन के यथार्थ को पाने और उसे अभिव्यक्ति देकर सत्य का उद्घाटन करने का है। समाज के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का यही एकमात्र रूप और दायित्व है।"[7]

अतः स्पष्ट है कि शिवदान सिंह चौहान भारत के स्वतंत्रता वर्ष सन 1947 ई. को साहित्य के इतिहास में इतना महत्वपूर्ण मोड़ मानते हैं कि उनका रुझान मार्क्सवादी विचारधारा, साहित्य में वर्गीय संघर्ष आदि से हटकर 'सत्य की खोज' की प्रयोगवादी धारणा की ओर हो जाता है।

डॉ. नामवर सिंह भी सन 1973 ई. में 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य' में प्रकाशित अपने लेख में आजादी के तीन चार वर्षों अर्थात सन 1947 ई. से 1951 ई. तक के काल के बारे में लिखा है कि इस संक्रांति काल के बाद देशभर में सांस्कृतिक नवजागरण की एक लहर आई, जिसके फलस्वरुप एक प्रकार का नाम रोमांटिक उत्थान हुआ।[8]

फिर सन 1947 ई. के आसपास के साहित्यिक गतिविधियों पर रामविलास शर्मा करते हुए लिखा है कि –

"सन 1947 ई. के बाद एक ओर सामाजिक दायित्व से बचकर साहित्य रचने की प्रवृत्ति - पंत के रहस्यवाद, भारतभूषण अग्रवाल आदि के प्रयोगवाद में - बलवती हुई, दूसरी ओर प्रगतिशील साहित्य में उग्र और संकीर्णतावादी रुझान प्रबल हुए। रामविलास शर्मा के अनुसार प्रयोगवाद के आगमन के पीछे काम करनेवाला चिंतन यह था कि - भारत स्वाधीन हो रहा है, सत्ता समृद्ध वर्ग के हाथ में आ रही है। ऐसे समय जीवन के गहनतर स्तरों की उज्ज्वलतर आलोक से विशदतर रूप में प्रतिभाषित करना ज्यादा सुसंस्कृत कार्य था। संघर्ष, समाजवाद, यथार्थवाद आदि बातें निहायत निरर्थक मालूम होती थीं। मूल उद्देश्य था साहित्य को सामाजिक हलचल के गर्दगुबार से दूर रखना, 'कला के लिए कला' का प्रतिपादन करना।"[9]

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का इतिहास लेखन के इस 'पुनर्जागरण या नवोत्थान वादी' दृष्टि की अपनी समस्याएँ हैं। भक्तिकाल को लोकजागरण और लोकसंग्रह का काल माने जाने की अपनी समस्याएँ हैं। फिर चुकि रीतिकाल को ज्यादातर आलोचकों और साहित्य के इतिहासकारों ने दरबारी काव्य होने के कारण उसे लोक विमुख और अतिशय मांसल और

श्रृंगारिक अभिव्यक्ति के कारण देहवाद का काव्य मानते हुए पतनोन्मुख काल की संज्ञा दी है, और इसलिए इसे पतनशील काल मानते हुए इसके बाद के काल - भारतेंदु युग - को 'नवोत्थान या नवजागरणवादी काल' माना जा सकता है, क्योंकि 'नवोत्थान या नवजागरण वादी' काल संज्ञा देने के लिए यह जरूरी है कि पहले का काल पतनोन्मुख हो।

ठीक इसी तरह सन 1947 ई. से भी हिंदी साहित्य के इतिहास में नवोत्थान या नवजागरण काल की शुरुआत माने जाने के लिए आवश्यक है कि भारतेंदु युग की तरह ही यह भी उपर्युक्त शर्तें पूरी करे। शर्त है कि किसी भी काल को नवोत्थान या नवजागरण वादी काल तभी कहा जा सकता है जब यह प्रमाणित हो सकेगी उसके पहले का काल पतनशील काल था। अब प्रश्न है कि सन 1947 ई. के बाद के काल को यदि नवोत्थान या नवजागरण वादी काल कहा जाता है तो इसके पहले के किस काल या युग को पतनोन्मुख या पतनशील काल कहा जाए?

रामविलास शर्मा का मत है कि प्रयोगवाद का आरंभ 'तार सप्तक(1943) से नहीं बल्कि 'प्रतीक' पत्रिका के प्रकाशन वर्ष सन 1947 ई. से होता है, तथा साथ ही वे 'नई कविता' पत्रिका के प्रकाशन वर्ष सन 1954 ई. से नई कविता आंदोलन का आरंभ मानते हैं।[10] रामविलास शर्मा ने यह भी स्वीकार किया है कि नई कविता वास्तव में छायावादोत्तर छायावादी कविता ही है[11], और फिर इसी क्रम में इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है कि सन 1947 ई. में 'साहित्य अकादमी' से प्रकाशित 'समकालीन भारतीय साहित्य' पत्रिका में अज्ञेय का जो लेख छपा था, उसमें उन्होंने प्रयोगवाद और नई कविता की मूल संवेदना के संदर्भ में पश्चिमी प्रभाव को एक बुनियादी तत्त्व स्वीकार किया। उन्होंने यह भी लिखा कि आज के भारतीय लेखक और पश्चिम के लेखक में संवेदना के स्तर पर कोई फर्क नहीं है।[12] इसके बाद स्वयं अज्ञेय ने सन 1952 ई. में प्रयोगवाद के नाम को अस्वीकार करते हुए नई कविता के भीतर ही प्रयोगवाद को समाहित कर लिया।[13]

इस तरह हम देखते हैं कि छायावाद से प्रयोगवाद और प्रयोगवाद से नई कविता तक एक ही परंपरा के उत्तरोत्तर विकास का एक अटूट क्रम है, इसलिए सन 1947 ई. से यदि नवोत्थान काल माना जाता है तो इसी अटूट परंपरा को नवोत्थान काल माना जाएगा। और फिर इस तर्क के आधार पर इस नवोत्थान वादी परंपरा के मुकाबले खड़ा होने और इससे संघर्ष करने वाला प्रगतिवाद अपने आप ही पतनोन्मुख काल मान लिया जाएगा, जो कि एक बहुत ही हास्यास्पद बात होगी। इसलिए कहा जा सकता है कि सन 1947 ई. से हिंदी साहित्य का नवोत्थान या नवजागरण नहीं माना जा सकता।

इस तरह की - सन 1947 ई. से हिंदी साहित्य का नवोत्थान या नवजागरणवादी – धारणा को हास्यास्पद मानने के पक्ष में एक और तर्क भी दिया जा सकता है। वह यह कि प्रयोगवाद और नई कविता के नेता अज्ञेय केशवदास को अपनी कला प्रवृत्ति और संवेदना के अनुकूल पाकर ही 'केशव की कविताई' को पुनः स्थापित करने की कोशिश करते हैं[14]। जबकि केशव के काव्य को मांसल, देहवादी और श्रृंगारिक होने के कारण पतनोन्मुख माना जाता है। इस तरह हम पाते हैं कि तृतीय नवोत्थान या नवजागरण वादी धारणा के संवेदना के सूत्र वास्तव में द्वितीय नवजागरण के पतनोन्मुख साहित्य में मिलता है। फिर यहाँ यह भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि जिस तृतीय नवोत्थान या नवजागरण वादी अवधारणा के तहत प्रगतिवादी साहित्य को पतनोन्मुख कहा जा सकता है, उसकी लोकोन्मुखता और लोकसंग्रह की परंपरा आदि संवेदनाओं के सूत्र तथाकथित प्रथम नवजागरण वादी साहित्य में है। अतः स्पष्ट रूप से यह अंतर्विरोध ही प्रमाणित करता है कि नवोत्थान या नवजागरण वादी इतिहास दृष्टि से भी आधुनिक काल के हिंदी साहित्य इतिहास लेखन में बहुत दूर तक नहीं जाया जा सकता है।

वास्तविकता तो यह है कि अभी तक हिंदी साहित्य इतिहास के लेखन में ऐसी किसी भी पद्धति या दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ है, जो आदिकाल से लेकर अभीतक के साहित्य को उसकी तमाम विधागत, प्रवृतिगत आदि विविधताओं और विशेषताओं के साथ साहित्य की समाजिकता और साहित्यिकता दोनों की समान रुप से रक्षा करते हुए विवेचित और विश्लेषित कर सके। इस कठिनाई के कारण आजादी के बाद से साहित्य के इतिहास लेखन का हौसला भी कम होता गया। इसके बावजूद बहुतेरे हिंदी साहित्य का इतिहास लिखे गए हैं। अब हम इन्हीं कुछ हिंदी साहित्य के इतिहासों में आधुनिक काल के लेखन की दृष्टियों को उसके स्वरूपगत और अन्य विशेषताओं के संदर्भ में संक्षेप में समझने का प्रयास करेंगे, और यह जानने की भी कोशिश करेंगे कि इससे आधुनिक काल के हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की कोई नई दृष्टि मिल पाती है या नहीं। इसके लिए डॉ. सुमन राजे का 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' के 'प्रस्थान' में अभिव्यक्त मान्यता - "हम भूल गए की सिद्धांत से इतिहास नहीं निकलता, इतिहास से सिद्धांत निकलते हैं।"[15] - पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के आधुनिक काल के लेखन की इतिहास दृष्टि आधुनिक काल को केवल गद्य काल ही नहीं कहती है, बल्कि उन्होंने इस काल में गद्य(116 पृष्ट) को पद्य(98 पृष्ट) से अधिक पृष्ठों में विवेचित विश्लेषित किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल में गद्य विधा आचार्य शुक्ल की दृष्टि में पद्य से अधिक

महत्वपूर्ण हो जाती है। हालांकि आधुनिक काल में भी आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल का भी युग विभाजन, सीमा निर्धारण, कवि परिचय, प्रवृत्ति निरूपण, मुख्य रचनाकारों और उनकी रचनाओं का उदाहरण के साथ-साथ गौण और अन्य कवियों और रचनाकारों की चर्चा भी आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल आदि की ही परिपाटी के अनुसार किया है, जिससे यह कभी-कभी इतिवृत्तात्मक लगने लगता है। इन्होंने पद्य खंड और गद्य खंड दोनों को समान रूप से दो-दो प्रकरणों और तीन-तीन ऊत्थानों में वर्गीकृत किया है और कोशिश यही है कि पद्य के साथ-साथ साहित्य की अन्य सभी विधाओं की उत्पत्ति और विकास का विस्तार परंतु सम्यक रूप से परिचय दे दिया जाए और उसके केंद्र में काम करने वाली विचारधारा पर भी संक्षेप में विचार हो। इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल की आधुनिक काल के लेखन संबंधी स्वरूपगत दृष्टि अत्यंत ही संतुलित, प्रौढ़ और विकसित है।

'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास (द्वितीय महायुद्धोतर)'[16] में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मानना है कि आधुनिक युग की सबसे अधिक प्रतिक्रिया उपन्यास और कहानियों में हुई है।[17] परंतु जहाँ उन्होंने उपन्यासों की चर्चा केवल सत्तरह पृष्ठों में की हैं, वहीं कहानी की विस्तार से चर्चा चौवन पृष्ठों में की है, जबकि वे उपन्यास को कहानी से अधिक जीवन और जगत से जुड़ा मानते हैं। इतना ही नहीं कविता का इससे भी अधिक विस्तृत रूप में लगभग सत्तर पृष्ठों में विवेचन-विश्लेषण हुआ है। अतः स्पष्ट है कि आधुनिक युग की सबसे अधिक प्रतिक्रिया उपन्यास और कहानियों में मानने के बावजूद इन्होंने व्यवहारिक रूप से पुस्तक में कविता को सबसे अधिक महत्व दिया है। कविताओं की इस विश्लेषण में आचार्य शुक्ल की प्रवृत्ति, रचनाकार और उसके रचनाओं के उदाहरण की परिपाटी से अलग हटते हुए इन्होंने मूल रूप से उन विवेच्य काल की कविताओं की संवेदना, कथ्य, वैचारिक पक्ष, प्रेरणा के स्रोत, विभिन्न वादों और विवादों आदि पर अधिक विस्तार से विचार किया है, और कविताओं के उदाहरण यदाकदा ही दिए गए हैं। इस तरह स्पष्ट है कि कविताओं की विवेचन की इनकी पद्धति में आचार्य शुक्ल की परिपाटी से अलग हटने की कोशिश हुई है। कहानियों की भी कथावस्तु और संवेदना का विस्तार से विवेचन-विश्लेषण है, कुछ महत्वपूर्ण कहानीकारों पर अलग से भी विचार किया गया है। परंतु नाटक, एकांकी, आलोचना आदि अन्य साहित्यिक विधाओं पर अति संक्षिप्त में ही विचार हुआ है, जिससे संभावना व्यक्त की जा सकती है कि इन आधुनिक विधाओं को इनकी इतिहास दृष्टि में अधिक महत्व नहीं मिला है। इसकी शायद एक दूसरी वजह यह भी हो की यह मात्र 210 पृष्ठों वाली अत्यंत ही संक्षिप्त इतिहास पुस्तक है।

वहीं अपनी दूसरी इतिहास पुस्तक 'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'[18] में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने रीतिकाल के बाद के हिंदी साहित्य को आधुनिक या ब्रिटिश काल (सन 1800 ई.-1947 ई.) और स्वतंत्रता या यथार्थवादी काल (सन 1947 ई. - अबतक) में काल विभाजन किया है। इस पुस्तक में भी उन्होंने आधुनिक युग को गद्य युग माना है। पिछले पुस्तक के भांति ही उपन्यास की संक्षिप्त रूप से और कहानी की विस्तार से चर्चा की है। नाटक, एकांकी, निबंध, समालोचना आदि गद्य विधाओं पर अत्यंत संक्षेप में विचार किया गया है। इस इतिहास की विशेषता है कि इसमें ब्रजभाषा, खड़ी बोली, छायावाद-रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि पारंपरिक काव्य आंदोलनों की तो यथावत पारंपरिक रूप से चर्चा की गयी है, परंतु उसके बाद सन 1947 ई. को काल विभाजन का आधार बनाते हुए इसे स्वतंत्र का नाम दिया गया है और साथ में यह भी लिखा गया है कि यह नाम हमेशा नहीं बना रहेगा, भविष्य में बदल भी सकता है। इस काल के अंतर्गत फिर से प्रयोगवाद, नई कविता, नवगीत, अगीत आदि के साथ-साथ स्वातंत्र्योत्तर नाटक, आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि की चर्चा की गई है। यहाँ फिर से एक बार स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सन 1947 ई. से हिंदी साहित्य इतिहास में काल विभाजन करना बहुत उपयुक्त नहीं है। कुल मिलाकर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का दोनों इतिहास लगभग एक ही इतिहास दृष्टि से लिखा गया है।

डॉ. बच्चन सिंह का 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास'[19] मूलतः श्रेष्ट आधुनिक रचनाओं और रचनाकारों वृत्त संग्रह है, जैसा कि पुस्तक के 'निवेदन' से भी स्पष्ट है – "यह इतिहास मूलतः साहित्यिक कृतियों पर आधारित है, पर उनका अपेक्षित पर्यावरण सर्वत्र दृष्टि में रखा गया है।"[20]

सन 1857 ई. से आधुनिक काल प्रारंभ मानना इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है। परंतु काल विभाजन के संदर्भ में कहीं नायकोन्मुख यथा -शुक्ल पूर्व, शुक्ल युगीन, शुक्लोत्तर; प्रेमचंद-पूर्व, प्रेमचंद-युगीन, प्रेमचंदोत्तर; प्रसाद-पूर्व, प्रसाद-युगीन, प्रसादोत्तर आदि तो कहीं प्रवृत्ति को केंद्र में रखते हुए पूर्व-स्वच्छंदतावाद काल, स्वच्छंदतावाद काल, उत्तर-स्वच्छंदतावाद काल जैसा विभाजन किया गया है। वास्तव में आज के उत्तर आधुनिकतावादी विमर्श - जिसके अंतर्गत केंद्र और परिधि की संकल्पना ही खत्म हो गई है – के आलोक में किसी व्यक्ति या नायक को या फिर किसी प्रवृत्ति को केंद्र में रखकर काल विभाजन करना व्यवहारिक नहीं है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार का नामकरण बदलती हुई प्रवृतियों को भी सम्यक रूप से रेखांकित नहीं करता है।

फिर इन्होनें ही ने 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' के 'पुनर्जागरण काल और पूर्व-स्वच्छन्दतावाद-काल' को एक कर 'नवजागरण युग' नाम दे दिया है। बाद बाकि 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' का 'आधुनिक काल' कमोबेश 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' का ही संक्षिप्त रूप है। दोनों ही इतिहास पुस्तक में कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, समालोचना आदि का विवेचन हुआ है।

कहानी का विवेचन अपेक्षाकृत कम और उपन्यास विवेचन में सबसे अधिक विस्तार है। विवेचन और विश्लेषण की आचार्य शुक्ल की परिपाटी का ही अनुसरण किया गया है। फिर आधुनिक कालीन हिंदी कविता को पूर्व-स्वच्छंदतावाद काल, स्वच्छंदतावाद काल, उत्तर-स्वच्छंदतावाद काल में विभाजन करने के पक्ष में इनका तर्क है कि इससे युगों की बाढ़ को रोका जा सकेगा – "भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की परिकल्पना कर लेने पर युगों की बाढ़ आ गयी। भारतीय हिंदी परिषद् प्रयाग से प्रकाशित हिंदी साहित्य (तृतीय खंड) में उपन्यासों के संदर्भ में प्रेमचंद युग और नाटकों के संदर्भ में प्रसाद युग की कल्पना की गई. पता नहीं समीक्षा के संदर्भ में शुक्ल युग क्यों नहीं लिखा गया? जितने युग, उतने संदर्भ।"[21] जबकि युग और संदर्भ बदले नामों, स्वरुप और कलेवर के साथ इनके यहाँ भी उतने हीं मौजूद हैं। उदाहरण के लिए - उत्तर स्वच्छंदतावादी युग के अंतर्गत काव्य को इन्होंने प्रगति प्रयोग का पूर्वाभास, विप्लव वादी और गांधीवादी काव्य, प्रगतिवाद प्रयोगवाद और नई कविता, सप्तेतर कवि, मोहन की प्रक्रिया और नई दिशाएं, नवगीत, नवें दशक की कविता आदि विभिन्न शिक्षकों में रखकर विवेचित किया है। इतना ही नहीं कविता की तरह नाटक में भी इन्होंने प्रगति-प्रयोग धारा, आधुनिकतावादी और जनवादी धारा की कल्पना की है। फिर उपन्यास भी कविता की तरह प्रयोगवादी, प्रगतिवादी, सामाजिक सास्कृतिक, सांस्कृतिक मिथकीय, आंचलिक, और साठ के बाद के सभी उपन्यासों को दो शीर्षक - आधुनिकतावादी और जनवादी धारा तथा आधुनिकता और नए उपन्यास अंतर्गत रखा है। वास्तव में इन्होंने किसी काल सीमा में लिखे गए उपन्यासों को एक नाम या शीर्षक दे दिया है। जिस तरह से गरीबदास नाम का आदमी धन्ना सेठ भी हो सकता है, उसी तरह जो शीर्षक दिए गए हैं, उससे उलट प्रवृति वाले उपन्यासों का विवरण भी उसमें हों तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर वहीं स्वच्छन्दतावाद काल में उपन्यासों का ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं किया है। प्रेमचंद, प्रसाद आदि उपन्यासकारों के नाम और उनके उपन्यासों का क्रम से विवरण है। अतः अलग अलग कालों में वर्गीकरण के अलग अलग

आधार अपनाये गए हैं। कविता के संदर्भ में पारंपरिक वर्गीकरण को ही शीर्षक और उप-शीर्षक बनाकर और नाम फेर बदलकर अपना लिया गया है।

डॉ. नगेन्द्र के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी साहित्य के छात्रों में सबसे अधिक लोकप्रिय है, परंतु इस इतिहास में आधुनिक काल का स्वरुप इतना पारंपरिक, इतिवृत्तात्मक, सूचनात्मक और यांत्रिक है कि इसे वृत्त-संग्रह भी कहा जा सकता है। इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आधुनिक काल में इसमें खड़ी बोली के साथ-साथ ब्रज काव्यधारा को भी पर्याप्त स्थान मिला है। फिर मुख्यधारा के साहित्यिक विधाओं यथा – कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबंध, आलोचना, जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, संस्मरण, रेखाचित्र, गद्यकाव्य, रिपोतार्ज, इंटरव्यू, पत्र-साहित्य, डायरी, अभिनंदन और स्मृति ग्रंथ आदि के साथ-साथ ज्ञान के साहित्य यथा- इतिहास विषयक ग्रंथ, राजनीति एवं प्रशासन विषयक ग्रंथ, भूगोल और देश परिचय, अर्थशास्त्र, धर्म और दर्शन, शिक्षा विषयक ग्रंथ, विज्ञान विषयक ग्रंथ, भाषा, लिपि और व्याकरण संबंधी रचनाएँ, कोष-ग्रन्थ; पत्र-पत्रिकाएँ आदि – की भी चर्चा हुई है।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में काल विभाजन का प्रयास नहीं है, क्योंकि इसमें आचार्य शुक्ल के काल विभाजन को ही कमोबेश स्वीकार कर लिया गया है, और सुविधानुसार अलग-अलग शीर्षक विभिन्न कालों, प्रवृतियों, विधाओं, रचनाकारों और रचना आदि पर इतिहास दृष्टि से अधिक मुख्य रूप से इन सबों पर औपन्यासिक कथा प्रवाह में आलोचनात्मक टिप्पणी के रूप में विचार किया गया है। इसमें प्रवृति, देशकाल, विधा, रचना और रचनाकार आदि साहित्य के सभी महत्वपूर्ण अंग को काल विभाजन और अध्याय या उप-अध्याय के शीर्षक निर्धारण में समान रूप से महत्त्व दिए जाने के कारण भविष्य में चाहे जो भी आधार या आधारों का समुच्च्य लेकर इतिहास लिखा जाए, उस परंपरा में इस इतिहास का नाम अवश्य होगा। चाहे केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही सही यह इतिहास जरूर उपयोगी होगा। इस तरह के इतिहास लेखन की परंपरा के पूर्व-संकेत डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास' में ढूंढा जा सकता है।

साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में विजयेन्द्र स्नातक ने पारंपरिक कालविभाजन को ही अपने इतिहास लेखन का आधार बनाया है। उन्होंने भारतेंदु युग का आरंभ 1850 इसमें से माना है। इसके अलावा इस इतिहास की सबसे बड़ी समस्या है कि आधुनिक काल के विवेचन में गद्य विधा यथा - उपन्यास कहानी नाटक निबंध आदि - का अत्यंत संक्षेप में विवेचन हुआ है, परंतु पद्य का विवेचन पारंपरिक और बहुत ही संतुलित है।

सुमनराजे ने 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में लगभग सभी भारतीय भाषाओँ में हुए स्त्री लेखन का इतिहास प्रस्तुत करके भारतीय साहित्येतिहास परंपरा में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह सराहनीय है। परंतु कहीं-कहीं इन्होंने इतिहास लेखन की प्रचलित निर्वैक्तिक पद्धति से इतर शैली अपनाई हैं। कोई भी इतिहास 'मैं'* शैली में नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि इससे इतिहास की वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षटता को आघात पहुँचता है। और जैसा कि 'मैं' शैली में होता है, व्यक्तिगत विचार और टिप्पणियाँ इनके इतिहास के स्वरुप का अंग बन जाते हैं।† इसके अलावा भाषा के स्तर पर कुछ अधिक छूट ली गयी है, यथा - 'नोटिस'‡ 'पारी'§, 'तुरता-फुरता'** आदि शब्द का प्रयोग धरल्ले से हुआ है। कभी कभी इनकी दृष्टि नकारात्मक भी हो जाती है।†† इतिहास लेखन से आलोचनात्मक उत्साह अधिक है।‡‡ फिर भी इस इतिहास ने स्वरुप के स्तर पर पारंपरिक जड़ता तोड़ी है। जिस तरह से हिंदी साहित्य के इतिहास के नाम पर पारंपरिक रुप से हिंदी भाषा-समूह के साहित्य का इतिहास लिखा जाता रहा है, उसी परंपरा का लाभ उठाते हुए डॉ. सुमन राजे ने हिंदी साहित्य का आधा इतिहास अर्थात हिंदी साहित्य के स्त्री रचनाकारों के साहित्य का इतिहास लिखने के नाम पर पूरे भारतीय भाषाओं के स्त्रियों के साहित्य का इतिहास लिखती हैं। यह इतिहास पारंपरिक इतिहासों के समक्ष अप्रत्यक्ष रूप से ही सही लेकिन एक चुनौती तो उपस्थित कर ही रही है।

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा लिखित 'हिंदी साहित्य का सरल इतिहास' अत्यंत ही संक्षिप्त रूप में इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखा गया है कि इससे सामान्य-से-सामान्य छात्रों और व्यक्तियों को हिंदी साहित्य की स्पष्ट अवधारणा और प्रवृतियों की सम्यक जानकारी मिल जाए – "इसके साथ ही यह जानकारी ऐसे स्तर की हो कि वह प्रारंभिक कक्षाओं से लेकर उच्च कक्षाओं की परीक्षाओं में भी अच्छे अंक प्राप्त कर सके। विद्यार्थी को विषय में सीधा प्रवेश मिले, उसे व्यर्थ में इधर-उधर उलझना और भटकना न पड़े। साथ ही, हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण सूत्रों, कार्य-कारण संबंधों, विभिन्न कालखंडों की प्रधान और अप्रधान प्रवृतियों की

---

*इसका सबसे बड़ा कारण, मैं समझती हूँ , इन भाषाओँ के आधारभूत साहित्येतिहास का इन संबंध में मौन रह जाना है।" – सुमन राजे; हिंदी साहित्य का आधा इतिहास; पृष्ठ संख्या 239

† "आशापूर्णा देवी ने .....जिसे फेंकना चाहेंगे, फेंक देंगे" – वही; पृष्ठ संख्या 240

‡ "राष्ट्रीय काव्यधारा के यदि किसी कवि को नोटिस लिया गया तो वह सुभद्रा कुमारी चौहान हैं" – वही, पृष्ठ संख्या 250

§ "सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने एक लंबी पारी खेली है।" – वही; पृष्ठ संख्या 259

** "स्वतंत्रता प्राप्ति आधुनिक भारतीय साहित्य की संभवतः सबसे बड़ी घटना है, लेकिन साहित्येतिहास से इसको जोड़कर कुछ तुरता-फुरता नतीजे नहीं निकाले जा सकते।" – वही; पृष्ठ संख्या 264

†† "महादेवी वर्मा को नकारना शुक्ल जी जैसे इतिहासकार के लिए संभव नहीं हुआ।" – वही; पृष्ठ संख्या 250

‡‡ "स्पष्ट है कि प्रगतिवाद .....प्रेमगीत तो आह! आह! राष्ट्रगीत तो वाह! वाह!" – वही; पृष्ठ संख्या 265

सम्यक जानकारी मिल जाए, जिसके आधार पर वह साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर अपनी स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत कर सके।"[22]

इस इतिहस में काल विभाजन संबंधी दो समस्याएँ हैं, जो इसके उपरोक्त घोषित उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पहुंचाते हैं। एक तो यह कि सन 1947 ई. से हिंदी साहित्य का इतिहास का नया मोड़ मानना और उसके बाद के साहित्य को स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के रूप में विवेचित-विश्लेषित करना, जो कि हिंदी साहित्य जगत में बहुत स्वीकार्य नहीं है, इस इतिहास को सरल के बजाय दुरूह और सामान्य पाठकों के लिए असुविधापूर्ण बना देता है। दूसरी समस्या है - सन 1850 ई. से आधुनिक काल के आरंभ को मानने को लेकर। सामान्य रूप से आधुनिक काल की शुरुआत या तो सन 1857 ई. से या सन 1868 ई. से 'कविवचन सुधा' के प्रकाशन वर्ष से या सन 1873 ई. से 'हिंदी के नए चल में चली' से या फिर आचार्य शुक्ल की अवधारणा के अनुसार सन 1843 ई. से रीतिकाल के अंत से माना जाता है। इन सभी मान्यताओं के पक्ष और विपक्ष में मजबूत तर्क हैं। परंतु सन 1850 ई. से हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ मानना किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है।

वास्तव में भारतेंदु के जन्मवर्ष से ही भारतेंदु काल के आरंभ की यह अवधारणा कहीं न कहीं भारतीय भाग्यवादी मानसिकता दर्शाती है जिसके अनुसार सब कुछ जन्म के समय या संभवतः उससे पहले के जन्मों और कर्मों से तय हो जाता है। इस तरह की सोच उन सब चीज़ों के विरोध में चली जाती है जिसके लिए भारतेंदु और उनके समय के लेखक लड़े, जिन सब चीज़ों के खिलाफ लिखा। उनके जन्म से ही उनके काल का आरंभ मानना, अगर भारतेंदु होते तो उन्हें भी अपमानजनक लगता।

हमारे भारतीय दृष्टि, व्यवहार, परंपरा में मनुष्य के प्रति सबसे अधिक आदर और सम्मान प्रकट करने का तरीका अधिक-से-अधिक पाँव छूकर प्रणाम करने का है, और साष्टांग सिर्फ ईश्वर या देवता तुल्य मनुष्य के सामने ही शिष्ट और शोभनीय माना जाता है। परन्तु जिस तरह से इस पुस्तक में भारतेंदु के जन्म से ही भारतेंदु युग का आरंभ माना गया है, उससे यही लगता है कि भारतेंदु के प्रति अधिक-से-अधिक आदर और सम्मान प्रकट करने के अति उत्साह में इतिहासकार साष्टांग कर बैठा है*। हालांकि इस तरह की प्रवृति आजकल हिंदी जगत में बहुत

* मैं इस बात से अवगत हूँ कि इस तरह की टिपण्णी भारतीय ज्ञान मीमांशा और महान शास्त्रार्थ परंपरा की दृष्टि से अमर्यादित, अशोभनीय और अस्वीकार्य है, और होना भी चाहिए। परन्तु यह भी सत्य है कि युवा और नए शोधार्थी सदा से ही इस तरह की उदंडता करते आये हैं, और प्रबुद्ध विद्वत समाज पिता स्वरुप स्नेह के साथ माफ़ करता आया है। अफ़सोस है कि शिवदान सिंह चौहान की युवा आलोचक के रूप में की

आम हो गई है। साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टि में इस तरह के साहित्येतर और अवांतर चीज़ों और गतिविधियों से बचा जाना चाहिए।

इसके अलावा अन्य इतिहासों की तरह इसमें भी काल विभाजन कर उस काल विशेष की सभी विधाओं की प्रवितियों, रचनाओं, रचनाकारों आदि का विवरण-विवेचन-विश्लेषण है। बस कुछ कालों का अन्य इतिहासों की तरह नाम बदल दिया गया है। यथा - 1920-47 : गाँधी युग का साहित्य : यथार्थ और स्वप्न की अभिव्यक्ति, कविता में वही छायावाद, छायावादोत्तर काव्य, प्रगतिशील काव्य : प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नयी कविता आदि सबका विवेचन इसी धारा में परन्तु अलग-अलग युग के अंतर्गत हुआ है। आधुनिक काल के अंतर्गत पहला ही शीर्षक 'पूर्वाभास' की जगह 'पूर्वपीठिका' ज्यादा सटीक शीर्षक होता। सिर्फ कुछ नया नामकरण करने के प्रयास में अनावश्यक और अविवेकपूर्ण बदलाव नहीं होने चाहिए।

इस तरह से हम देखते हैं कि विभिन्न साहित्य के इतिहासों में 'हिंदी साहित्य के आधुनिक काल' के इतिहास लेखन में निरंतरता नहीं है। किसी ने कविता को अधिक महत्व दिया है, तो किसी ने कहानी, उपन्यास आदि को। कहीं छोटे-छोटे काल और युग में बाँटकर साहित्य के विकास को समझने की प्रवृत्ति है, तो कहीं बहुत बड़े काल को दो-तीन भागों में बांट दिया गया है। कहीं आलोचना और मूल्यांकन की प्रचुरता है, तो कहीं रचनाकार, उसके जीवन-व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं के कथात्मक विश्लेषण की भरमार है। इसके अलावा काल विभाजन सीमांकन आदि की भी अनेक पद्धतियां और दृष्टियाँ समान रूप से प्रचलित हैं। यद्यपि ज्यादातर इतिहासकारों ने आचार्य शुक्ल की परिपाटी का ही अनुसरण किया है, फिर भी ऐसे इतिहास कम नहीं है जिसमें इस परंपरा को चुनौती मिली है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि - हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के इतिहास लेखन दृष्टि में अभी न तो सिद्धांतिक रूप से और न ही व्यावहारिक रूप से स्थिरता आ पायी है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की विभिन्न सैद्धांतिक और व्यवहारिक विषयों पर विचार करने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि आधुनिक काल के इतिहास लेखन की दृष्टि की कुछ समस्याओं और सवालों पर विचार किया जाए।

गयी इसी तरह की उदंडता को हिंदी जगत ने कभी माफ़ नहीं किया। उन सब बातों को लेकर उनपर हमले होते रहे, जिनके लिए उन्होंने सार्वजनिक रूप से आरंभ में ही अफ़सोस जाहिर कर दिया था। खैर!

आधुनिक काल के हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की एक महत्वपूर्ण समस्या साहित्य और समाज के विकास के साथ-साथ भाषा के विकास का भी अध्ययन है। इसपर 'कल्पना' के सन 1964 ई. के जून अंक में हिंदी के सर्जनात्मक लेखन में अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग पर एक परिसंवाद भी छपा था, जिसमें विजयदेव नारायण साही, कृष्णबलदेव वैद्य, धर्मवीर भारती, नेमीचंद्र जैन, प्रभाकर माचवे आदि ने भाग लिया। इसमें कुछ विद्वानों ने हिंदी साहित्य में अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग की आलोचना की तो कुछ ने इसका समर्थन किया। वास्तव में साहित्य में भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है, बल्कि यह चिंतन का भी माध्यम है, इसलिए साहित्य के रचना में प्रयुक्त भाषा का सवाल भी इतिहास लेखन का एक बड़ा सवाल है।

आधुनिककालीन हिंदी साहित्य के इतिहास के लेखन में एक समस्या साहित्यिक आंदोलन और साहित्यिक फैशन में अंतर करने की भी है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार – छायावाद, प्रगतिवाद आदि साहित्यिक आंदोलन थे जबकि हालावाद नकेनवाद, अकविता, विद्रोही कविता, वीर कविता, ताजी कविता आदि अल्पजीवी साहित्यिक फैशन थे, जिसने साहित्य के विकास विकास प्रक्रिया पर कोई गहरा और अस्थाई प्रभाव नहीं छोड़ा।[23]

आधुनिक हिंदी साहित्य इतिहास दृष्टि में आंदोलनों और प्रवृतियों की व्याख्या करते हुए विभिन्न विधाओं के प्रति एक समन्वित दृष्टिकोण को अपनाना भी एक बड़ी समस्या है। सामान्यतः ऐसा करने के प्रयास में अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि अलग-अलग विधाओं में एक साथ ही अलग-अलग सामाजिक या अन्य दुसरे प्रकार के भावों, विचारों और अनुभवों की अभिव्यक्ति होती रहती है। इससे संभव है कि इतिहासकार को उन सब में आपस में एकसूत्रता तलाश करने में कठिनाई हो इसलिए विभिन्न विधाओं के आंदोलन और प्रवृत्तियों की व्याख्या करना आधुनिक काल के इतिहास दृष्टि में अत्यंत महत्वपूर्ण सवाल है।

आधुनिक काल के हिंदी साहित्य के इतिहास दृष्टि की एक समस्या साहित्य पर विदेशी प्रभाव के अध्ययन की भी है। अज्ञेय ने कहा भी है कि – 'आज के भारतीय साहित्यकारों और पश्चिम के साहित्यकारों के भावबोध में कोई अंतर नहीं है।' इसलिए आधुनिक काल के साहित्य इतिहास लेखन में इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी भी रचनाकार या रचना पर पश्चिम या बाहरी प्रभाव कितना है, और देशी और अपनी परंपराओं का प्रभाव कितना है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के इतिहास लेखन दृष्टि एक समस्या यह भी है कि किसी भी साहित्य के विभिन्न विधाओं और उन विधाओं के अंतर्गत विभिन्न वादों और युगों की उत्पत्ति

विकास परिवर्तन ह्रास को किस तरह से विवेचित विश्लेषित किया जाए। आधुनिक काल में इतनी अधिक विविधता और जटिलता है कि हर दस-बीस वर्ष के अंतराल पर किसी न किसी विधा में कोई-न-कोई नई प्रवृत्ति-नया वाद आरंभ हो जाता है। उदाहरण के लिए अभी 70-80 के दशक तक कविता और कहानी में नए वादों का सिलसिला थमा नहीं था, कि 90 के दशक से हिंदी साहित्य में विमर्शों के दौर आरंभ हो गया। इन सबको साहित्य की परंपरा में किस-किस तरह से और कैसे स्थान मिले इस पर विचार इसके उत्पत्ति विकास परिवर्तन आदि को सम्यक रूप से समझे बिना संभव नहीं है।

इस तरह के अनेकों आधुनिक काल में हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टि से जुड़े सवाल हो सकते हैं, जिनका सम्यक समाधान ढूंढे बिना आधुनिक काल के हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की दृष्टि में न तो सैद्धांतिक रूप से और ना ही व्यावहारिक रूप से स्थिरता और पूर्णता आ सकती है।

सन्दर्भ सूची :-

[1] शिवदान सिंह चौहान; हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; पृष्ट संख्या 27
[2] वही; पृष्ट संख्या 27
[3] वही; पृष्ट संख्या 28
[4] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; पृष्ट संख्या 223
[5] वही; पृष्ट संख्या 215
[6] वही; पृष्ट संख्या 228
[7] संपादकीय; स्वातंत्र्योत्तर साहित्य विशेषांक; आलोचना 1965
[8] सं. के.आर. श्रीनिवास आयंगर, इंडियन लिटरेचर सिंस इंडीपेनडेंस; पृष्ट संख्या 79-80
[9] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; पृष्ट संख्या 223
[10] रामविलास शर्मा, नई कविता और अस्तित्ववाद, पृष्ठ संख्या 27
[11] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; पृष्ट संख्या 222
[12] वही; पृष्ट संख्या 217
[13] वही; पृष्ट संख्या 218
[14] वही; पृष्ट संख्या 207
[15] सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास; पृष्ठ संख्या 08
[16] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास (द्वितीय महायुद्धोतर)
[17] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, स्वातंत्रयोत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास; पृष्ट संख्या 30
[18] संभवतः प्रथम प्रकाशन 1985-86, संस्करण 1990'
[19] बच्चन सिंह; आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास
[20] बच्चन सिंह; आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास; पृष्ठ संख्या 06
[21] वही; पृष्ठ संख्या 09
[22] विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास; पृष्ट संख्या 05
[23] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि; पृष्ट संख्या 208

उपसंहार

'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' : वैकल्पिक इतिहास की ओर

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा में दर्जनों महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे गए हैं। इन इतिहासों का लेखन परंपरा में क्या स्थान है, इन सबको किन-किन दृष्टियों से किन-किन तत्वों आदि को ध्यान में रखकर लिखा गया है, का - संक्षिप्त या विशद जो भी कहें – वर्णन-विवेचन पूर्व के अध्यायों में 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' के संदर्भ में 'हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के प्रश्न' पर विचार करने के क्रम में हुआ है।

लगभग ये सभी इतिहास ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा में कुछ न कुछ नया तो अवश्य ही जोड़ते हैं और इसलिए इस परंपरा को समृद्ध करने में इनका योगदान उल्लेखनीय है। परंतु इसके साथ ही यह भी सच है कि इनमें से ज्यादातर इतिहास ग्रंथ - जो आज के हिंदी जगत के सामान्य पाठकों, छात्रों, विद्वानों और विश्वविद्यालयों आदि द्वारा पढ़े या पढ़ाए जाते हैं – में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टियों में से किसी एक या फिर दोनों ही दृष्टियों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए लिखे गए हैं। इसलिए इतिहास लेखन की परंपरा में कुछ थोड़ा बहुत नया जोड़ने के बावजूद भी ये सब हिंदी इतिहास लेखन की परंपरा में गौण महत्व के इतिहास ही माने जाएंगे। परंतु इनके अलावा कुछ एक दूसरे हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ भी लिखे गए हैं, जिन्होंने भले ही आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के इतिहास लेखन की दृष्टि के परंपरा का रुख न मोड़ा हो, फिर भी वैकल्पिक इतिहास लेखन की परंपरा में इनका महत्व आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल के इतिहास ग्रंथों जैसा ही है। चाहे इस तथ्य को स्वीकार किया जाए या न किया जाए।

ऐसे इतिहास ग्रंथों में मेरी दृष्टि में दो इतिहास ग्रंथ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। पहला, शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखित 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' और दूसरा डॉ. सुमन राजे का 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास'। ये दोनों ही इतिहास परंपरा और मुख्यधारा में रहते हुए भी हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन को परंपरा से इतर एक वैकल्पिक दिशा की ओर ले जाते हैं। जिस तरह से आचार्य शुक्ल के समय में खड़ीबोली(हिंदी) भाषा के उत्कृष्ट साहित्य का परिमाण अत्यधिक कम था इसीलिए उन्होंने संभवत: साम्राज्यवादी इतिहास दृष्टि अपनाते हुए खड़ीबोली(हिंदी) भाषा और साहित्य के इतिहास के अंतर्गत उत्तर भारत के हिंदी प्रदेश की भाषाओं और बोलियों के समूह के साहित्य की समृद्ध परंपरा को शामिल कर लिया। डॉ. सुमन राजे को हिंदी साहित्य का आधा इतिहास लिखने के क्रम में जान पड़ा होगा कि हिंदी साहित्य में स्त्री रचनाकारों का अलग से इतिहास लिखने के लिए जरूरी स्त्री कवित्रियों और लेखिकाओं की संख्या और सामग्री का अभाव है। इसीलिए उन्होंने संभवत: आचार्य शुक्ल की शैली

अपनाते हुए, हिंदी साहित्य के स्त्री रचनाकारों के इतिहास लेखन के अंतर्गत संपूर्ण भारतवर्ष के सभी प्राचीन-अवार्चीन, भूत-वर्तमान भाषाओं के स्त्री रचनाकारों को अपने इतिहास में शामिल कर लिया। इस तरह से 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' लेखन के लिए आवश्यक सामग्री के संकलन में आचार्य शुक्ल की परिपाटी का पालन करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य का आधा इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहास दृष्टि के आधे अंश का पालन हुआ है। अतः इस इतिहास को हिंदी साहित्य इतिहास लेखन के परंपरा से इतिहास दृष्टि के आधार पर भी बाहर नहीं किया जा सकता है। परंतु आचार्य शुक्ल जहां धार्मिक, सांप्रदायिक, अप्रामाणिक, कलात्मक दृष्टि से कमजोर आदि तरह के रचना और रचनाकारों को अपने इतिहास से बाहर कर देते हैं, वही डॉ. सुमन राजे आचार्य शुक्ल की परंपरा से एक अलग एक वैकल्पिक रास्ता अपनाते हुए धर्म, संप्रदाय, प्रामाणिकता, कलात्मकता की कसौटी आदि के आधार पर कवियों और रचनाकारों को अपने इतिहास ग्रंथ से बाहर और भीतर नहीं करती हैं। इस तरह से हिंदी साहित्य का आधा इतिहास हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा को एक वैकल्पिक मार्ग की ओर ले जाती है।

ठीक डॉ. सुमन राजे की तरह ही उनके इतिहास के प्रकाशन से दशकों पहले शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी साहित्य अस्सी वर्ष के लेखन में आचार्य शुक्ल की धर्म, संप्रदाय, प्रामाणिकता, कलात्मकता की कसौटी आदि के आधार पर कवियों और रचनाकारों को अपने इतिहास ग्रंथ से बाहर और भीतर करने वाली दृष्टि का अनुकरण तो किया परंतु उन्होंने आचार्य शुक्ल की भाषा दृष्टि से अलग भाषा दृष्टि अपनायी। इस तरह से यह इतिहास भी हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की दृष्टि की परंपरा का आधा पालन करती है और आधा वैकल्पिक राह अपनाती है।

अब हम इन दोनों इतिहासों के वैकल्पिक इतिहास लेखन की परंपरा की ओर ले जाने वाले तत्वों को आपस में वैसे ही मिला दें जैसे कि आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के बाद के विभिन्न साहित्येतिहासकारों ने उन दोनों की इतिहास दृष्टियों के सामंजस्य से इतिहास लिखे थे, तो हमें हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की एक पूर्ण वैकल्पिक इतिहास दृष्टि मिल जाएगी। इस हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की इन दोनों साहित्य के इतिहासों को मिलाकर बनी एक पूर्ण वैकल्पिक दृष्टिकोण को अपनाने के बाद अगर कोई हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा जाता है तो वह वास्तव में वैकल्पिक इतिहास लेखन के रास्ते का एक महत्वपूर्ण पड़ाव होगा।

इस तरह के इतिहास का स्वरूप कुछ इस तरह का हो सकता है। हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष की भाषा दृष्टि को अपनाते हुए सामग्री के संकलन, चयन और विवेचन में हिंदी साहित्य का

आधा इतिहास की दृष्टि को अपनाते हुए खड़ी बोली हिंदी साहित्य के अंतर्गत खड़ी बोली हिंदी की कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों तमाम अन्य साहित्यिक गद्य विधाओं के साथ-साथ खड़ीबोली(हिंदी) में लिखे गए गीत, लोकगीत, विज्ञापनों और दूसरे अन्य रचनात्मक साहित्य को भी रखा जा सकता है। जिस तरह से आचार्य शुक्ल और उनके बाद उनकी परंपरा के हिंदी के साहित्य के इतिहासकारों ने गद्य साहित्य की मुख्य विधा नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि के साथ-साथ अपने इतिहास ग्रंथों में अन्य गद्य विधाएं 'शीर्षक' के अंतर्गत आत्मकथा, यात्रावृत्त, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि को रखते थे, उसी तरह अब लिखे जाने वाले हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में हिंदी साहित्यि की लोकप्रिय और अन्य विधाएं शीर्षक के अंतर्गत हिंदी के गीत, लोकगीत, विज्ञापन जगत आदि के उत्कृष्ट रचनाओं को शामिल किया जा सकता है। जिन्हें अब तक हिंदी साहित्य के इतिहास में अन्य गद्य विधाएं 'शीर्षक' के अंतर्गत रखा जाता है, वह अब नाटकों, कहानियों, उपन्यासों आदि की भांति साहित्य की प्रमुख गद्य विधाएं हो गयी हैं। आत्मकथा तो अब हिंदी दलित साहित्य की केंद्रीय विधा बन गयी है। इसके अलावा जीवनी, संस्मरण, यात्रावृत्त, रेखाचित्र आदि की भी इतनी समृद्धि परंपरा हो गयी है कि फुटकल खाते की तरह उसे अन्य गद्य विधाएं 'शीर्षक' के अंतर्गत वर्णित विवेचित करना अब उचित नहीं जान पड़ता है। जिस तरह से बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि साहित्य के मुख्य विधाओं के साथ-साथ आत्मकथा, यात्रावृत्त, संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि साहित्य की विकास प्रक्रिया का आरंभ होता है, उसी तरह से 1990 के दशक के बाद से साहित्य की पारंपरिक विधाओं के अलावा कुछ दूसरी नई साहित्यिक विधाओं का विकास क्रम आरंभ होता है। उनमें प्रमुख है - विज्ञापन-साहित्य। इसलिए हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की वैकल्पिक इतिहास लेखन में इन नयी साहित्यिक विधाओं की खोज पड़ताल कर उसके सम्यक वर्णन और विवेचन की आवश्यकता होगी।

परंतु इस तरह के वैकल्पिक इतिहास लेखन की हिंदी जगत में चर्चा करना भी बहुत अशुभ माना जाता है। एक पहाड़ी गीत की कुछ पंक्तियां है -

पागल हवा !
जा बाहर देखकर तो आ,
कि कहीं मेरे पति तो नहीं आ रहे।

मैं खुद देख आती,
मगर
मैं अपने पहलू में सोए अपने प्रेमी को जगाना नहीं चाहती।

इस गीत के बारे में कहा जाता है कि यह इतना अशुभ है कि इसे गाने वाली औरत अगली सुबह मृत पायी जाती है।

परंपरा के विरुद्ध इस वैकल्पिक गीत को गाने वाली स्त्रियों की तरह ही वैकल्पिक इतिहास लेखन करने वाले शिवदान सिंह चौहान को भी हिंदी साहित्य जगत में हाशिये पर धकेल कर, हिंदी जगत से बहिष्कृत कर, असमय ही उन्हें सैद्धांतिक रूप से मार दिया गया। परंतु वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य का यथार्थ वैकल्पिक साहित्येतिहास लेखन की दिशा के उज्जवल भविष्य की ओर दृढ़ता संकेत कर रहा है। आजकल समाज जीवन और जगत में होने वाले निरंतर बदलाव और उससे उत्पन्न परिस्थितियों और उसका प्रभाव निश्चय ही एक ना एक दिन - और वह भी निकट भविष्य में ही - खड़ीबोली(हिंदी) साहित्य के इतिहास से हर दृष्टि से लगातार अप्रसांगिक होते जा रहे आदिकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन साहित्य को जो मूल रुप से हिंदी की न होकर दूसरी भाषाओं का साहित्य है, निकाल बाहर करेगा नहीं तो कम से कम साहित्य के इतिहास ग्रंथों में इनके वर्णन और विवेचन में खर्च किए गए पृष्ठों की संख्या में तो अत्यधिक कमी होगी ही। ऐसा जब भी होगा उस समय 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' की वैकल्पिक इतिहास दृष्टि का सबसे अधिक महत्व होगा। इति।

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ :-

1. चौहान, शिवदान सिंह; हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष; स्वराज प्रकाशन 2007

2. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन 2005

3. शर्मा, रामविलास; भाषा और समाज; राजकमल प्रकाशन 2011

4. शिवकुमार; हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन; मैकमिलन 1978

सहायक ग्रंथ :-

5. आयंगर, सं. के.आर.; श्रीनिवास इंडियन लिटरेचर सिंस इंडीपेनडेंस; साहित्य अकादमी 1973

6. कश्यप, श्याम; हिंदी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ; हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्विद्यालय, संस्करण 1999

7. कार, ई. एच.; इतिहास क्या है?; मैकमिलन 2010

8. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास; लोकभारती प्रकाशन 2010

9. चतुर्वेदी, रामस्वरुप; इतिहास और आलोचक दृष्टि; लोकभारती प्रकाशन 1982

10. चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार; भारतीय आर्य भाषा और हिंदी; राजकमल प्रकाशन 2004

11. चौहान, शिवदान सिंह; प्रगतिवाद; प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण 1946

12. तिवारी, नित्यानंद; आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध; वाणी प्रकाशन 2009

13. तिवारी, रामचंद्र; हिंदी का गद्य साहित्य; विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी 2014

14. थापर, रोमिला; इतिहास की पुनर्व्याख्या; राजकमल प्रकाशन 2004

15. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; हिंदी साहित्य की भूमिका; राजकमल प्रकाशन 2012

16. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; हिंदी साहित्य का आदिकाल; वाणी प्रकाशन 2012

17. नगेन्द्र, सं.; हिंदी साहित्य का इतिहास; मयूर पपेरबैक्स 2013

18. मधुरेश; मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान; आधार प्रकाशन 2011

19. माधव, नीरजा; हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास; सामायिक बुक्स 2012

20. राजे, सुमन; हिंदी साहित्य का आधा इतिहास; भारतीय ज्ञानपीठ, 2004

21. राय, शशिकांत; इतिहास दर्शन अवधारणा एवं सामयिकता; सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस 2008

22. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; स्वातंत्रयोत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास; राजपाल एंड सन्ज़, 2009

23. शर्मा, नलिन विलोचन; साहित्य का इतिहास दर्शन; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् 1960

24. शर्मा, रामविलास; इतिहास दर्शन; वाणी प्रकाशन 2007

25. शर्मा, रामविलास; भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश; किताबघर प्रकाशन नयी दिल्ली 2006

26. शर्मा, रामविलास; भाषा और समाज; राजकमल प्रकाशन 2011

27. शर्मा, रामविलास; भारतेंदु हरिश्चंद और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ; राजकमल प्रकाशन 1999

28. शर्मा, रामविलास; ऐतिहासिक भाषाविज्ञान और हिंदी भाषा; राजकमल प्रकाशन 2001

29. शर्मा, रामविलास; भारतीय साहित्य की भूमिका; राजकमल प्रकाशन 1996

30. शर्मा, रामविलास; भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ; वाणी प्रकाशन 2002

31. शर्मा, रामविलास; नई कविता और अस्तित्ववाद; राजकमल प्रकाशन 2012

32. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2012

33. स्नातक, विजयेन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; साहित्य अकादेमी 1996

34. सिंह, बच्चन; हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास; राधाकृष्ण प्रकाशन 1996

35. सिंह, बच्चन; आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास; संशोधित संस्करण 2007, लोकभारती प्रकाशन

36. सिंह, नामवर; हिंदी का गद्य पर्व; राजकमल प्रकाशन 2010

37. सिंह, नामवर; इतिहास और आलोचना; राजकमल प्रकाशन 1999

38. त्रिपाठी, विश्वनाथ; हिंदी साहित्य का सरल इतिहास; ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2010

39. श्रीधरण, ई.; इतिहास लेख; ओरिएंट ब्लैकस्वान 2011

शोध प्रबंध :-

40. चौहान, शिवजी; शिवदान सिंह चौहान की आलोचना दृष्टि; असम विश्वविद्यालय 2013

41. त्रिपाठी, अमरेन्द्र; शिवदान सिंह चौहान की इतिहास दृष्टि; जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय 2003

42. त्रिपाठी, अमरेन्द्र; प्रगतिशील आलोचना और शिवदान सिंह का आलोचना कर्म; जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय 2009

English Books:-

43. Jenkins, Keith; On 'What is History?' From Carr and Elton to Rorthy and White; Rutledge, 1995

44. Ka – Cheng, Eileen – May; Historiography An Introductory Guide; Continuum, 2012

45. Partner and Foot, Ed. Nancy and Sarah; The sage handbook of historical theory; SAGE, 2013

46. The GN Devy Reader; Orient Black swan, 2014

47. ENGELS, FREDERICK; THE ORIGIN OF THE FAMILY PRIVATE PROPERTY AND THE STATE, TRANSLATED BY ERNEST UNTERMANN, CHICAGO CHARLES H. KERR & COMPANY, 1908 (BOOK AVAILABLE ON INTERNET: http://www.gutenberg.org/files/33111/33111-h/33111-h.htm)